दूधनाथ सिंह का उपन्यास 'आख़िरी कलाम' और समकालीन संदर्भ

(एम.फिल. उपाधि हेतु प्रस्तुत लघु शोध–प्रबन्ध)

2006

शोध–निर्देशक
डॉ. ओमप्रकाश सिंह

शोधार्थी
रीना रानी

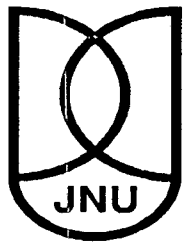

भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली–110067

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
CENTRE OF INDIAN LANGUAGES
SCHOOL OF LANGUAGE, LITERATURE & CULTURE STUDIES
NEW DELHI-110 067, INDIA

Dated 21 / 07 / 2006

DECLARATION

I declare that the work done in this thesis entitle **"DOODHNATH SINGH KA UPANYAS 'AKHIRI KALAM' AUR SAMKALEEN SANDARBH"** by me is an original work and has not been previously submitted for any other degree in this or any other University/ Institution.

REENA RANI
(Research Scholar)

DR. OMPRAKSH SINGH
(SUPERVISOR)
CIL/SLL&CS/JNU

PROF. MOHD. SHAHID HUSAIN
(CHAIRPERSON)
CIL/SLL&CS/JNU

विषय–सूची

पृष्ठ संख्या

भूमिका i - iii

प्रथम अध्याय : दूधनाथ सिंह की कथा–यात्रा 1 - 31

- संक्षिप्त जीवन परिचय
- कथा लेखन

कहानी साहित्य : सपाट चेहरे वाला आदमी
सुखान्त
माई का शोकगीत
प्रेम कथा का अन्त न कोई
धर्मक्षेत्रे–कुरूक्षेत्रे

उपन्यास साहित्य : निष्कासन
आखिरी कलाम

द्वितीय अध्याय : आख़िरी कलाम में अभिव्यक्त समकालीन संदर्भ 32 - 71

- धर्म बनाम संस्कृति का द्वन्द्व
- जातिवाद, सम्प्रदायवाद और साम्प्रदायिकता
- साम्प्रदायिकता का फासीवादी स्वरूप
- बौद्धिक समाज और समस्याएँ
- उपभोक्तावाद और सामाजिक परिवर्तन

तृतीय अध्याय : समकालीन समस्याओं के संदर्भ में आख़िरी कलाम की प्रासंगिकता 72 - 104

- धर्म का बढ़ता दबाव
- सांप्रदायिक उन्माद और अवसरवाद
- लहूलुहान इंसान और बौद्धिक समाज की नपुंसकता
- जातिवाद का घिनौना व्यापार
- उपभोक्तावाद का फैलाव
- संप्रदायवाद का फासीवादी स्वरूप

- उपसंहार 105 - 109
- संदर्भ–ग्रन्थ–सूची 110 - 113
- परिशिष्ट – (अयोध्या का मानचित्र)

भूमिका

वर्तमान दौर के कथाकारों में दूधनाथ सिंह एक महत्वपूर्ण कथाकार हैं। उनकी रचनाएँ अपने समय के सामाजिक और राजनीतिक प्रश्नों के साथ–साथ जनता की पीड़ा, आकांक्षाओं और उम्मीदों से गम्भीर रूप से जुड़ी हुई हैं। ये रचनाएँ कथ्य और शिल्प के स्तर पर ही नहीं बल्कि भावबोध और चेतना के स्तर पर भी रचनाकार के क्रमिक व्यक्तित्व विकास का प्रतिफल हैं। दूधनाथ सिंह ने अनुभव की दृष्टि पर प्रायः अधिक बल दिया है। उनका मानना है कि सही अनुभव दृष्टि के बिना कोई रचना सार्थक नहीं बन सकती। उनकी रचनाओं में सम–सामयिक स्थितियों की बड़ी साफ़–साफ़ अभिव्यक्ति मिलती है।

दूधनाथ सिंह अपनी कहानियों के कारण ही ज़्यादा चर्चित रहे हैं। उन्होंने सदैव चकित करने वाली और आकर्षक कहानियाँ हिन्दी साहित्य को दी हैं। वे सदैव नई कथा और नए रचनाबोध को लेकर सामने आए। परम्परा से हटकर रचना करने वाले लेखकों में दूधनाथ सिंह को गिना जाता है। 'निष्कासन' हो या 'आख़िरी कलाम' इन सभी में परंपराओं की शृंखला की कोई परवाह नहीं है। समसामयिक समस्याओं और राजनीतिक स्थितियों को इन्होंने आकर्षक ढंग से उभारा है। वे अपने कथा साहित्य में व्यक्ति के आन्तरिक द्वन्द्वों और क्रियाकलापों के द्वारा यथार्थ जीवन की पूर्ण अभिव्यक्ति करते हैं। इसलिए इनकी प्रत्येक रचना में नएपन और ताज़गी का एहसास विद्यमान रहता है।

बाबरी–मस्जिद ध्वंस की पृष्ठभूमि पर लिखा गया 'आख़िरी कलाम' संभवतः हिन्दी का पहला उपन्यास है। इसमें धर्म, जाति व्यवस्था, शिक्षा व्यवस्था, विश्वविद्यालयी परिवेश का घालमेल, बौद्धिक समाज की नपुंसकता, राजनीतिक जमात का छल और छद्म रूप, सांप्रदायिकता का स्वरूप, बढ़ता उपभोक्तावाद आदि को उपन्यस्त किया गया है। सांप्रदायिक हिन्दुत्ववादी शक्तियों द्वारा सांप्रदायिक कट्टरता को बढ़ावा, सत्ता प्राप्ति के लिए धार्मिक प्रतीकों का सहारा, ब्राह्मणवादी संरचना का वर्चस्व इसमें विद्यमान है। यह उपन्यास हिन्दू साम्प्रदायिक प्रवृत्ति को गंभीर खतरे के रूप में रेखांकित करता है। दूधनाथ सिंह की कथा यात्रा में अभिव्यक्ति के विभिन्न सोपान मिलते हैं। जीवन एवं जगत की समस्याओं व जोख़िम को इनकी रचनाओं में स्वर मिला है।

अध्ययन की सुविधा के लिए इस लघु शोध प्रबंध को तीन अध्यायों में बाँटकर प्रस्तुत किया गया है :

प्रथम अध्याय का शीर्षक है, "दूधनाथ सिंह की कथा यात्रा"। इसमें दूधनाथ सिंह के जीवन और उनकी कथा यात्रा से संबंधित विवरण प्रस्तुत किए गए हैं। जीवन की समस्याओं से जूझते हुए उन्होंने लेखन कर्म में किस प्रकार उत्कृष्ट मुक़ाम हासिल किया, कैसे जीवन के जटिल प्रश्नों को सुलझाने की कोशिश की, किस प्रकार अपने रचनाकर्म को गति प्रदान की आदि सभी सवालों से टकराने की कोशिश इस अध्याय में की गई है। इस अध्याय में उनके उपन्यासों के साथ–साथ कहानी संग्रहों तथा अन्य रचनाओं पर भी चर्चा की गई है। इस प्रकार यह अध्याय दूधनाथ सिंह के जीवन और रचना संसार का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करता है।

दूसरा अध्याय, 'आख़िरी कलाम' उपन्यास पर केन्द्रित है। इसका शीर्षक है "आख़िरी कलाम में अभिव्यक्त समकालीन संदर्भ।" यह उपन्यास रामजन्मभूमि–बाबरी मस्जिद विवाद पर केन्द्रित है। इसमें व्यक्ति के जीवन और समाज से जुड़ी वर्तमान समस्याओं को व्यापक स्तर पर अभिव्यक्त किया गया है। तत्कालीन समय की सामाजिक परिस्थितियों और हलचलों को उपन्यासकार ने किस दृष्टि से देखा है तथा स्वर प्रदान किया है इस अध्याय में इसकी गंभीर चर्चा है।

तीसरे अध्याय में 'आख़िरी कलाम' की प्रासंगिकता पर बात की गई है। समकालीन समस्याएँ धर्म, जाति, साम्प्रदायिकता, फासीवाद, उपभोक्तावाद आदि पर बात करते हुए उन्हें वर्तमान समय के मुद्दों से जोड़ा गया है। वर्तमान समय में वोट की स्वार्थी राजनीति ने समाज के हर क्षेत्र को प्रभावित किया है। चाहे वह राजनीतिक क्षेत्र हो, प्रशासनिक क्षेत्र हो, धार्मिक क्षेत्र हो या फिर विश्वविद्यालयी क्षेत्र। समय, परिस्थितियाँ, इतिहास, साक्ष्य, तथ्य सभी का सहारा राजनीतिक जमात ने सत्ता प्राप्ति की चाहत में लिया है।

अंत में, उपसंहार एक स्वतंत्र अध्याय के रूप में लिखा गया है। इस शीर्षक के अंतर्गत पूरे शोध प्रबन्ध का निष्कर्षात्मक मूल्यांकन प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

'आख़िरी कलाम' को शोध का विषय बनाने का मुख्य कारण इस उपन्यास में अभिव्यक्त समसामयिक स्थितियों तथा धर्म और धर्मनिरपेक्षता जैसे विषयों पर अपनी समझ विकसित करना है। उपन्यास के कुछ निष्कर्ष भले ही अतिवादी लगते

हैं परन्तु सोचने को विवश अवश्य करते हैं। रामजन्म भूमि – बाबरी मस्जिद जैसे विवादित मसले पर लेखन कार्य चुनौतीपूर्ण है जिसे दूधनाथ सिंह ने स्वीकार किया है। इस उपन्यास के माध्यम से दूधनाथ सिंह एक परिपक्व संवेदना वाले लेखक के रूप में हमारे सामने उपस्थित हैं। उनकी लेखनी से निकलने वाले मुद्दों को लघु शोध प्रबंध के माध्यम से वाणी देने का विनम्र प्रयास किया गया है।

शोध निर्देशक डॉ. ओमप्रकाश सिंह, जिनके बिना मैं इस लघु शोध प्रबंध के प्रस्तुत स्वरूप की कल्पना भी नहीं कर सकती थी, के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन औपचारिकता का निर्वाह मात्र होगा। वस्तुतः अगर मेरे शोध में कुछ भी सार्थक है तो उसका श्रेय डॉ. ओमप्रकाश सिंह को ही जाता है। उनके अभिभावकीय, उदार और आत्मीय व्यवहार ने शोधकार्य के प्रति हमेशा उत्साह का वातावरण बनाए रखा। इनका निर्देशन प्रेरणा और उत्साहवर्द्धन का मिला जुला रूप है। शोधकार्य के दौरान उन्होंने जो पर्याप्त समय दिया, इस सहयोग के लिए मैं उनकी हमेशा कृतज्ञ रहूँगी। कोई भी शोध सर्वथा निर्दोष नहीं हो सकता। यह भी उससे अछूता नहीं हो सकता। इसमें जो भी कमजोरियाँ रह गई हैं उनके लिए मैं क्षमा चाहती हूँ।

मेरे संस्कारों में सर्वत्र उपस्थित ममतामयी माँ एवं अदम्य जिजीविषा के प्रेरणा स्रोत मामाजी (डॉ. धर्म प्रकाश) के प्रति मैं आभार व्यक्त करती हूँ जिनका स्नेह, विश्वास और प्रेरणा लगातार मिलती रही। मित्र अंशु, अरुण, भरत, विश्वनाथ की आभारी हूँ जिन्होंने सामग्री संकलन से लेकर वैचारिक स्तर पर भी सहयोग दिया।

मित्र शालिनी और किम के प्रति आभारी हूँ जिन्होंने मुझे अपना अमूल्य समय और सहयोग दिया।

मुकेश के प्रति हृदय से कृतज्ञ हूँ जिन्होंने इस काम में क़दम–क़दम पर मेरा हौसला बढ़ाया व बहुमूल्य सुझाव दिया।

मैं अपनी बहन दिव्या को कैसे भूल सकती हूँ, उसने सदैव मेरे हर कार्य में साथ दिया है।

शुद्ध एवं द्रुत गति से टंकण कार्य करने के लिए मैं श्री शिव प्रताप यादव जी को धन्यवाद देती हूँ।

– रीना

प्रथम अध्याय

दूधनाथ सिंह की कथा–यात्रा

- संक्षिप्त जीवन परिचय
- कथा लेखन

कहानी साहित्य : सपाट चेहरे वाला आदमी
सुखान्त
माई का शोकगीत
प्रेम कथा का अन्त न कोई
धर्मक्षेत्रे–कुरूक्षेत्रे

उपन्यास साहित्य : निष्कासन
आख़िरी कलाम

साठोत्तरी कहानी आन्दोलन को जिन कहानीकारों ने सर्वाधिक प्रभावित किया है, उनमें दूधनाथ सिंह का नाम भी जुड़ा हुआ है। अपनी विलक्षण प्रतिभा, शैली, रचनात्मकता और कथा कहने के ढंग के कारण ही उन्हें अपने समय के साहित्यकारों से अलग पहचान मिली। अपनी रचनाओं के माध्यम से साहित्य जगत में पैठ बनाने और महत्वपूर्ण स्थान निर्मिति में उनके कथा व्यक्तित्व ने अच्छी भूमिका अदा की है।

दूधनाथ सिंह का कथा साहित्य अपने सहज, स्वाभाविक और आकर्षक रूप से समाज की सच्चाई को गाढ़े अनुभव और पूर्ण विश्वास के साथ रेखांकित करने का काम करता है। दूधनाथ सिंह ने न केवल उपन्यास, कहानी, कविता, संस्मरण आदि में ही अपना हाथ आजमाया है। बल्कि आलोचना साहित्य में भी अपनी पकड़ मजबूत की है। अतः कह सकते हैं कि सातवें दशक के कहानीकारों में दूधनाथ सिंह लगभग अकेले ऐसे व्यक्ति हैं, जिन्होंने ज़िन्दगी के रू–ब–रू खड़े होकर गम्भीर ढंग से उसकी विसंगतियों को देखा और प्रभावी ढंग से व्यक्त किया।

संक्षिप्त जीवन परिचय

साठोत्तरी पीढ़ी के कहानीकारों में जो कथाकार ज्यादा चर्चा में रहे, निश्चय ही वे दूधनाथ सिंह हैं। दूधनाथ सिंह की रचनाएं अपने समय के सामाजिक और राजनीतिक प्रश्नों के साथ–साथ जनता की पीड़ा, आकांक्षाओं और उम्मीदों से गम्भीर रूप से जुड़ी हैं। उनकी कहानियों और उपन्यासों में भारतीय परिवेश और उसके यथार्थ धरातल पर जीने वाले व्यक्ति की चीख़ पुकार से निकटता का सम्बन्ध उभरता है।

दूधनाथ सिंह ने अपनी रचनाओं में नवीन विषयों का प्रतिपादन किया है। इनकी प्रत्येक रचना चाहे वह किसी भी समय में लिखी गई हो निश्चित रूप से सामयिक जीवन बोध से सम्बन्धित है। इनकी रचनाओं में ग्रामीण वर्ग–उच्च वर्ग, ग़रीब–अमीर, अनपढ़ उच्च शिक्षित, पुरातन–नवीन, अंधविश्वास–प्रगतिशील सभी धर्मों, विश्वासों एवम् वर्गों के लोगों के जीवन की कुंठा, निराशा, पराजय और घुटन

की सूक्ष्म एवं गहरी अभिव्यक्ति मिलती है। इन्होंने जीवन की प्रत्येक परिस्थिति का सूक्ष्म तरीक़े से विश्लेषण किया है।

अपने आपको इस मुक़ाम तक पहुँचाने के लिए दूधनाथ सिंह ने ख़ासी मशक़्क़त की है। अपनी पढ़ाई के दौरान दूधनाथ सिंह दर–दर की ठोकरें खाए, 'पढ़ाई–लिखाई से कुछ नहीं होता', ऐसे व्यंग्य सहे, लोगों ने अनेक लांछन लगाए पर उन्होंने पढ़ाई–लिखाई से मुँह न मोड़ा। कठिनाईयों और मुश्किलों से जूझते हुए वे धीरे–धीरे अपनी मंज़िल की तरफ़ बढ़ते रहे परन्तु हार नहीं माने। बेहद कठिन रास्ते से चलकर मुश्किलों को रौंदकर वे अपने आपको आज की स्थिति तक लाने में सफल हुए।

इनके गाँव के लोग पढ़ने–लिखने को बिगड़ना कहते हैं। इन सब बातों को इन्होंने सिरे से नकारा और निरन्तर विपरीत परिस्थितियों से संघर्ष करते हुए वे आज बड़े साहित्यकारों की पँक्ति में आए हैं। 'लौट आ, ओ धार' में एक जगह वे कहते हैं, "मैं कलक्टर नहीं बना, डिप्टी नहीं हुआ, क्लर्क नहीं हुआ, दारोग़ा नहीं हुआ। फिर मैं क्या कर रहा हूँ ? मैंने 'नार्मल' की ट्रेनिंग नहीं ली। मास्टर नहीं हुआ। फिर मैं कहां हूँ ? फिर मेरे पढ़ने का क्या मतलब है ? ऊपर की कमाई तो दूर मैं दो कौड़ी की तनख़्वाह के लिए भी मुहाल हूँ। ई मुल्लही अस लेखक क्या होता है, विद्वान क्या होता है ? आवार, चरित्रहीन, बदमाश, कुलनाशक ... यानी लेखक।"[1]

तमाम कष्ट सहन करने के बाद उन्होंने अपनी मंज़िल पायी और उसे ईमानदारी और आदर्श से सींचा। परन्तु लोग पढ़ाई–लिखाई को धन बटोरना कहते हैं। उन लोगों के जीवन का मक़सद केवल धन प्राप्त करना है। ईमानदारी और आदर्श के बारे में दूधनाथ सिंह कहते हैं , "ये सब निरर्थक मूल्य है – आज के समाज में। एक पिछड़ापन है। चाहे शहर के लोग हों या गाँव–देहात के। सभी जगह पढ़ाई–लिखाई का केवल एक मक़सद है – धुन के कमाई करना। चाहे जैसे भी हो। अगर घर नहीं भरा, अगर मर–जी के, चोरी–बेईमानी करके, गला काटकर धन नहीं बटोरा तो पढ़ना–लिखना किस काम का ! विद्वान बनना क्या होता है ? और लिखते क्या हो ? और किसलिए लिखते हो ? यह धोखा है – घर–परिवार, भाई–बहन, माँ–बाप, कुल–परिवार, गाँव जवार सभी से। यह आवारागर्दी है, मारे–मारे फिरना है, अपने को नष्ट करना है।"[2]

हिन्दी के साठोत्तरी कथाकारों में दूधनाथ सिंह अपने यथार्थधर्मी नूतन शिल्प और रचनात्मक ईमानदारी के कारण महत्वपूर्ण स्थान के अधिकारी हैं। इनका जन्म 17 अक्टूबर सन् 1936 में उत्तर प्रदेश के बलिया ज़िले में हुआ। इन्होंने इलाहाबाद विश्वविद्यालय से एम.ए. की परीक्षा उत्तीर्ण की। फिर वहीं पर अध्यापन करते हुए हिन्दी विभागाध्यक्ष के पद से सेवा निवृत्त हुए। वे आज भी लेखन में सक्रिय रूप से जुड़े हुए हैं।

दूधनाथ सिंह का परिवार सामान्य किसान परिवार है। पीढ़ियों से इनके परिवार में लोग खेती करते आ रहे थे, ऐसा ही शायद आने वाली पीढ़ियों तक चलता रहता परन्तु इसे स्वयं झुठलाया दूधनाथ सिंह ने। इन्होंने विश्वविद्यालयी शिक्षा पायी और पठन–पाठन तथा लेखन को अपना व्यवसाय बनाया। लिखने का कारण पूछने पर वे जवाब देते हैं –"मेरे भीतर एक भयावह अकेलापन था। ... एक डर, एक ख़ालीपन, एक ऊब, एक निरर्थकता। शायद अपने को परिचित कराने की प्रबल इच्छा ने लिखने कों जन्म दिया – शायद। मैं कुछ हूँ ... कुछ हूँ और वह नहीं करूँगा, जो पिछले 500 वर्षों से एक ही जगह बैठे हुए मेरा परिवार करता आ रहा है। ज़िदगी इतनी ज़लालत भरी थी, इतने अपमान, विनष्ट होने के इतनी सम्भावनाएँ कि उससे भागने और बच निकलने की चेष्टा के भीतर से ही शायद लिखना पैदा हुआ।"[3] जिस प्रकार उनके परिवार ने किसान जीवन बिताकर बहुत कुछ पाया। उसी तरह लिखने से उन्हें आत्मसंतुष्टि मिली, जीवन को एक उद्देश्य मिला और मिला सुखद सुख। उन्हीं के शब्दों में "लिखने से सुख मिला। लिखने से जीना सम्भव हुआ। लिखने से हम सयाने हुए। लिखने से हमारी विचित्र नमकहराम उदासी बार–बार लौट कर आयी। लिखने से हमने पहचाना कि हम एक 'ऐब्नार्मल' आदमी हैं। लिखने से हमने जाना कि कमीनापन, क्रूरता, उजड्डता बुरी बातें हैं। लिखने से हमने प्यार करना सीखा। लिखने से हमने भूलना सीखा। लिखकर हम मुक्त हुए और खुलकर रोये। यही मिला।"[4]

दूधनाथ सिंह एक ऐसे कथाकार हैं, जिनकी रचनाओं में साठोत्तरी पीढ़ी के बाद आने वाले प्रत्येक मोड़ का कथा साहित्य मिल जाता है। इसलिए उनकी कहानियों और उपन्यासों को किसी एक सीमा में नहीं बांधा जा सकता। उनका कथा साहित्य केवल कथ्य और शिल्प के स्तर पर ही नहीं, बल्कि भावबोध और चेतना के

स्तर पर भी क्रमिक विकास का प्रतिफल है। प्रारम्भ में वे अपनी कहानियों के कारण ही ज्यादा चर्चित रहे। उनकी कहानियों में अनुभूति की ताज़गी है। उन्होंने अनुभव की दृष्टि पर प्रायः अधिक बल दिया है इसका प्रमाण स्वयं उनकी कहानियाँ हैं। उनका मानना है कि सही अनुभव दृष्टि के बिना कलात्मक और सार्थक रचना नहीं बन सकती। परम्परा से हटकर रचना करने वाले साठोत्तरी कथा–लेखकों में दूधनाथ सिंह का स्थान विशिष्ट है। समसामयिक समस्याओं और राजनीतिक स्थितियों की बड़ी साफ अभिव्यक्ति उनके कथा साहित्य में मिलती है। साहित्य की विविध विधाओं में उन्होंने श्रेष्ठ साहित्य–सृजन किया है।

रचना संसार

साठोत्तरी कहानीकारों में दूधनाथ सिंह ने यदि अपनी अलग पहचान बनायी तो यह उनका अपने समय की कथा–धारा को समझने की कोशिश और उसी स्तर पर अपनी रचनाओं को सजाने–संवारने का प्रयास था। इनकी कहानी कला का रूप धीरे–धीरे विकास की ओर अग्रसर रहा। इनकी कहानियों में एक प्रकार की ताजगी और नएपन का एहसास विद्यमान रहा। अपने परिवेश से गहरे रूप में जुड़ने की कोशिश दूधनाथ सिंह की कहानियों में देखी जा सकती है। व्यक्ति के आन्तरिक द्वन्द्वों को भाषा और उसके क्रियाकलाप के द्वारा उभारकर सामने लाने में वे अधिक सफल रहे हैं। नरेन्द्र मोहन का कथन है कि, "दूधनाथ सिंह की कहानियाँ यथार्थ के प्रति गम्भीर ढंग से प्रतिक्रिया करती हैं। ये कहानियाँ व्यक्ति के आन्तरिक यथार्थ और देश या समाज के बाह्य यथार्थ को संवेदनात्मक स्तर पर जोड़ने वाली कहानियाँ हैं।"[5] इनकी कहानियों में लेखक की तरफ़ से किसी प्रकार का लाग–लपेट नहीं है, बल्कि जो जैसा है, उसे उसी रूप में परोसने का प्रयास किया गया है। दूधनाथ सिंह की कहानियाँ ही नहीं बल्कि उपन्यासों में भी यथार्थ और भोगे हुए जीवन की पूर्ण अभिव्यक्ति हुई है।

दूधनाथ सिंह की हालिया प्रकाशित रचनाओं में 'निष्कासन' उपन्यास बहुत चर्चित हुआ है। इस उपन्यास में इलाहाबाद विश्वविद्यालय के एक महिला छात्रावास "मृदुला साराबाई गर्ल्स हॉस्टल" के अंतरंग जीवन का कच्चा चिट्ठा खोला गया है।

इसमें एक दलित लड़की के उत्पीड़ित जीवन की मार्मिक कहानी को शब्दों में बांधा गया है। निष्कासन के पश्चात् उनका दूसरा महत्वपूर्ण उपन्यास 'आख़िरी कलाम' है। इस उपन्यास में बाबरी–मस्जिद विध्वंस के पश्चात् पैदा हुई परिस्थितियों को तत्सत पांडेय के राजनीतिक, सामाजिक और नैतिक जीवन के माध्यम से शब्दबद्ध किया गया है। दूधनाथ सिंह की मान्यता है कि "आज का रचनाकार अपनी परिस्थितियों के प्रति प्रतिबद्ध है और उन्हें सच्चाई के साथ प्रकट करना चाहता है, इस लेखकीय ईमानदारी के फलस्वरूप ही वह नये–नये माध्यमों की तलाश करता है, ताकि वह अपने परिवेश के दबाव एवं विवशताओं को सही ढंग से मुखरित कर सके।"[6]

कहानीकार, उपन्यासकार, नाटककार और कवि होने के साथ–साथ व्यक्ति एक सफल आलोचक भी हो, यह आवश्यक नहीं। दूधनाथ सिंह ने इस चुनौतीपूर्ण कार्य में भी सफलता अर्जित की है। आलोचना अपने आपमें लिखना कठिन कार्य है परन्तु इस कार्य को भी उन्होंने अंजाम दिया है। दूधनाथ सिंह कहते हैं, "जब आप एक कृति को किसी आलोचक के नजरिये से पढ़ते हैं, उस वक्त वह कृति अपने सम्पूर्ण भाष्य में उस आलोचक की होती है। तब आप उस कृति के नहीं, आलोचक के संभ्रम के आमने–सामने होते हैं।"[7] निराला को श्रेष्ठ कवियों की श्रेणी में पहुँचाने का सफल कार्य दूधनाथ सिंह ने किया है। निराला के कविता संग्रहों के नए संस्करणों में शब्दों की अशुद्धियों ने उन्हें क्षुब्ध किया है। इसका संकेत भी इस पुस्तक में मौजूद है। पुस्तक के निराला : आत्महन्ता आस्था के भ्रमित कर देने वाले नामकरण के बारे में दूधनाथ सिंह स्पष्ट करते हैं, "दरअसल सच्चा रचनाकार घनी–सुनहली आयालों वाला एक सिंह होता है, जिसकी जीभ पर उसके स्वयं के भीतर निहित रचनात्कता का ख़ून लगा होता है। अपनी सिंह वृत्ति के कारण वह कभी भी इस ख़ून का स्वाद नहीं भूलता और हर वक्त शिकार की ताक में सजग रहता है – चारों ओर से अपनी नज़रें समेटे, एकाग्रचित, आत्ममुख, एकाकी और कोलाहलपूर्ण शान्ति में जूझने और झपटने को तैयार। इसी तरह की एकाग्रचित्तता और आत्ममुखता में सिंह को मचान पर बैठे हुए शिकार का ध्यान नहीं रहता।"[8] इसी प्रकार निराला में भी सिंह वृत्ति प्रतीत होती है जो उन्हें नए–नए बिम्बों, प्रतीकों और सामान्य–बेजान से शब्दों में जान डालने को बाध्य करती है। दूधनाथ सिंह आगे कहते हैं, "कला रचना के प्रति यह अनन्त आस्था एक प्रकार के आत्महनन का पर्याय होती है जिससे किसी मौलिक

रचनाकार की मुक्ति नहीं है जो जितना ही अपने को खाता जाता है – बाहर उतना ही रचता जाता है।"[9] दूधनाथ सिंह ने निराला की इस आत्महननता को ही आत्महन्ता आस्था कहा है, "महान और मौलिक सर्जना के लिए यह आत्मबलि शायद अनिवार्य है। इन्हीं अर्थों में मैंने निराला के सम्पूर्ण रचना जीवन को आत्महन्ता आस्था की संज्ञा दी है।"[10]

दूधनाथ सिंह ने यह आलोचना पुस्तक निराला की प्रशंसा या निंदा करने के लिए नहीं लिखी है। उन्होंने इसे अपने मन के भावों उद्‌गारों और निराला की कविताओं के गूढ़ अर्थों को समझकर पूर्णतः शास्त्रीयता के घेरे में रहकर लिखी है। दूधनाथ सिंह अपने निजी अनुभवों और तर्कपूर्ण सन्देहों की अभिव्यक्ति में भी यहाँ पीछे नहीं है। वे स्वयं कहते हैं, "आनन्द की मेरी यह अभिव्यक्ति श्रद्धा–विगलित क्षणों की उपज न होकर, मेरे दिमाग की तार्किक रस–सिद्धि का परिणाम है, मेरे सधे हुए सुर की अभिव्यक्ति है। अतः उसमें एक तर्कपूर्ण निजी शास्त्रीयता भी है। इसीलिए यह मात्र प्रशस्तिवाचन या निन्दा नहीं है, बल्कि निराला की रचनाओं तक पहुँचने के लिए बनाया गया एक निजी और नया द्वार भी है, जिससे पाठक नए सिरे से, एक नई जगह से, उस सिंह का दर्शन कर सकें। इसीलिए इस पूरी पुस्तक में एक तार्किक और सघन तह–दर–तह शिल्प भी है। इसी रूप में यह एक नया मूल्यांकन है।"[11]

'निराला : आत्महन्ता आस्था' निराला के जीवन एवं रचना की संघातिक विडम्बनाओं को ही प्रस्तुत नहीं करती वरन् किसी भी रचनाकार को समझने की नई अध्ययन–दृष्टि भी प्रस्तावित करती है। वे कहते हैं, "निराला का काव्य व्यक्तित्व इतना विराट, गहन, गंभीर और कुछ ऐसा सीमाहीन लगता है, जिसके अन्दर बाहरी विचार और सिद्धान्त और अध्ययन रेखाएं तिरोहित हो जाती हैं और फिर जो कुछ भी बाहर बचकर आता है, वह सिर्फ़ 'निराला' होते हैं। सामयिकता उनके व्यक्तित्व में घुलकर एक निजी और मौलिक रूप धारण करती है।"[12]

दूधनाथ सिंह 'जयशंकर प्रसाद' एवं 'निराला' की रचनाओं में अन्तर्निहित विशिष्टताओं को उजागर करते हुए निराला की रचना–प्रक्रिया की गंभीर एवं सूक्ष्म अनुभूति को प्रसाद के विशिष्ट जीवन–दर्शन से जोड़कर देखते हैं। 'भाषा और प्रगीत के सुन्दरतम और मधुरतम स्वरारोहों' और 'ध्वनि–छवियों' के द्वारा 'विशिष्ट गंतव्य की

ओर प्रस्थान करने के सार्थक एवं समर्थ प्रयास को रेखांकित करते हैं, "अपनी गहनतम अनुभूति और उसकी संवेगात्मक उठान में तथा भाषा–प्रयोग और अपने स्वनिर्मित जीवन–दर्शन में उन्हें अगाध आस्था है और उनकी यही आस्था 'कामायनी' की रचना के रूप में प्रतिफलित हुई है ... विवरणात्मक से बिम्बात्मकता की ओर बढ़ने और ध्वनि लहरियों को और सघनता की ओर ले जाने की ओर – यही प्रवृत्ति प्रसाद के भाषिक संरचना को समझने का मूल–सूत्र है।"[13] वे मानते हैं कि 'निराला' जहाँ 'स्वअर्जित रचनात्मक समृद्धि' को बार–बार ध्वस्त करते हुए नवीन संधान की ओर प्रवृत्त होते हैं वहीं प्रसाद अर्जित 'रचनात्मक समृद्धि' को संवेदना एवं शिल्प के स्तर पर उत्तरोत्तर सघन करते हैं। "इस नज़रिये से देखें तो प्रसाद और निराला वास्तव में दो विभिन्न एवं विरोधी दिशाओं, धरातलो और लक्षणों के कवि हैं और उनमें साम्य की जगह वैषम्य ही अधिक लक्षित होता है।"[14]

दूधनाथ सिंह 'सुमित्रानंदन पंत' को 'जागरूक सक्षम और समय की गति पहचानने वाले अध्ययनशील' कवि मानते हैं। पंत के काव्य में काल–विशेष में विशिष्ट 'काव्य–दृष्टियाँ' क्रियाशील रहती हैं। वहाँ नयी 'अनुभव सम्पदा' और 'भाषिक संरचना' दोनों स्तरों पर बदलाव दृष्टिगोचर होता है। यहाँ भी पंत एवं निराला के वैषम्य को वे रेखांकित करते हैं, "जहाँ निराला की रचना–प्रक्रिया के विकास के अध्ययन के लिए काल–क्रम का आधार एकदम बेमानी साबित होता है वहीं पंत की रचना–प्रक्रिया को समझने के लिए कालक्रम का आधार साबित होता है।"[15]

'निराला : आत्महन्ता आस्था' में दूधनाथ सिंह निराला, प्रसाद, पंत एवं महादेवी वर्मा के काव्य की संवेदना एवं भाषिक–संरचना के सम्बन्धों के साथ उनके वैषम्य के सहारे निराला के वैविध्यमयी रचना–संसार का मूल्यांकन करते हैं। महादेवी वर्मा के काव्य के सम्बन्ध में उनका मत है, "उसका विकास एकतान, सीधा, सहज और सर्वत्र समान है ... मनताप की गहन, सूक्ष्म और बहुरंगी अभिव्यक्ति ही महादेवी के काव्य का मुख्य लक्ष्य है। एक सर्वाधिक उदासी और गहरी वेदना की बहती हुई सूक्ष्म लय 'नीहार' से लगातार 'दीपशिखा' तक के गीतों में सर्वत्र समान रूप से परिव्याप्त है। ... निराला के अंतःसंगीत के निकट इन सभी कवियों में कोई है तो वह महादेवी ही हैं।"[16] इस प्रकार हम पाते हैं कि दूधनाथ सिंह निराला के साथ ही साथ उस युग के अन्य तीनों महान रचनाकारों की विशिष्टताओं का उद्‌घाटन कलात्मक

एवं मौलिक प्रविधि से करते हैं। निराला की 'लोकनिष्ठा एवं जीवन संघर्ष', पंत की 'काल संप्रक्ति', प्रसाद का सहज 'जीवन–दर्शन' और 'महान काव्य उद्देश्य' के साथ महादेवी की 'वेदना की गहनतम सच्चाई' को अपनी आलोचना का प्रस्थान–बिन्दु बनाते हैं।

दूधनाथ सिंह 'नमो अंधकारं' (आख्यान) में वर्तमान के सामाजिक एवं राजनैतिक जीवन की सडाँधता एवं विद्रूपताओं की नग्न तस्वीर को सामने लाते हैं। इस आख्यान के एक पात्र गुरु जी एवं उनका पारिवारिक और सामाजिक परिवेश नैतिक एवं बौद्धिक रूप से भ्रष्ट होते हुए बुद्धिजीवी वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है। उनके लिए सामाजिक, राजनैतिक एवं नैतिक शुचिता का कोई महत्त्व नहीं है।

मध्यवर्गीय जीवन के अभावों विडम्बनाओं एवं समस्याओं को हम लेखक के इस कथन में देख सकते हैं – "सभी कतरब्यौंत करते हैं। इधर तानते हैं तो उधर उघार हो जाता है, उधर तानते हैं तो इधर। कभी–कभी ज्यादा तानते हैं तो चादर चर्र–से फट जाती है। उस पर पैबंद साटने के लिए कोई साफ टुकड़ा भी नहीं मिलता। तब उसे उसी तरह खुला छोड़ देते हैं। उघार–नॉगट जैसी भी चल रही है, जिन्दगी चल रही है।"[17] 'नमो अंधकारं' के 'गुरु–जी' नैतिक रूप से भ्रष्ट हो चुके अवसरवादी व्यक्ति के जीते–जागते उदाहरण हैं। अवसर देखकर वामपंथी एवं दक्षिणपंथी होने में वे सिद्धहस्त हैं। जब वे शोषित, दलितों के बीच होते हैं तो 'सर्वहारा वर्ग' के सबसे बड़े हितैशी नज़र आते हैं। वे सवर्णों एवं साम्प्रदायिक तत्ववादियों के साथ उन्हीं की भाषा बोलते हैं। इसका एक उदाहरण "देखिये भाई, जनता के मिथक की रक्षा होनी चाहिए वही सर्वोपरि है। इतिहास क्या कहता है वह बेकार है। इतिहास तो घास–भूसा है। तथ्यों से समाज नहीं चलता। अब अयोध्या के बारे में जनता, 'मिथक' क्या है ? यह कि भगवान राम वहाँ पैदा हुए थे। हुए थे या नहीं यह दीगर बात है। इस पर तो सोचना ही नई है। जनता कहती है भगवान राम वहीं अवतार लिए। तो लिए भई। इसे मान लो और ढाह दो मस्जिद को। तर्क की जरूरत क्या। सब टण्टा खतम। लेकिन नहीं यह साम्प्रदायिकता है। साम्प्रदायिकता कहाँ से आ गई भाई।"[18] 'सखाराम' जैसा 'मार्क्सवादी' किस प्रकार सत्ता की दलाली करने लगता है, इसे रचना में खासतौर से उभारा गया है। 'ईमानदारी' जैसे मानवीय मूल्य की आज क्या कीमत रह गयी हे इसे 'रामसागर' की स्वीकारोक्ति में देखें – "मेरे

बच्चों, मैंने एक ही पाप किया कि तुम्हें ईमानदार बनाया। और तुम लोग भुगत रहे हो। और अब कुछ नहीं हो सकता। बहुत देर हो चुकी है। मुझे माफ कर देना ... अंधेड़ होकर हम इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि दुनिया सिर्फ लुटने का नाम है।"[19]

'बालश्रमिकों' की मुक्ति का प्रश्न भी इसी राजनैतिक अवसरवादिता के अंधे कुएं में फंस गया। अन्याय एवं शोषण अनवरत जारी रहा और 'देवनाथ' जैसे समर्पित कार्यकर्त्ता अपनी सारी ऊर्जा लगाने के बाद भी स्वयं को ठगा महसूस करते हैं। विश्वविद्यालय के 'नियुक्ति' एवं 'प्रमोशन' में चलने वाली गंदी राजनीति यहाँ भी दृष्टव्य है : "सिद्धान्तवादी बनते हैं,आचार्य जी, लोहिया जी, जयप्रकाश बाबू का हवाला देते–देते आपकी जीभ खिया गयी। और अपनी थर्ड क्लास लड़की को, सारे नियम–कानून ताक पर रखकर युनिवर्सिटी में रखवा देते हैं – बड़ी राजनीति तो है ही यह।"[20]

दूधनाथ सिंह का साहित्य सृजन विभिन्न सोपानों को पार करता हुआ अनवरत जारी है। आज जब अभिव्यक्ति पर प्रत्यक्ष खतरे मौजूद हैं, इनका 'आत्महंता आयोजन' अपनी जनमुखता और प्रतिरोधी प्रवृत्ति के कारण पाठक समाज को आश्वस्त करता है। मानव मात्र की हितचिंता तमाम तरह के षड्यंत्रों का प्रतिकार एवं जीवन की बेबसी, पीड़ा अभावों को जो स्वर उनकी रचनाओं में मिला है, निश्चय ही यह इनके लेखन के 'जनवादी' चरित्र को अभिव्यक्त करता है।

कथा लेखन

विभिन्न विधाओं में लिखते हुए दूधनाथ सिंह मूलतः कथाकार हैं। रचनाओं के कथ्य व शिल्प वैविध्य के कारण इन्हें समकालीन कथाकारों में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है। इनकी रचनाएं प्रकाशन के साथ ही चर्चा में आ जाती हैं और उन पर बहसें होने लगती हैं। इनके उपन्यासों के बारे में कहें तो उनमें दूधनाथ सिंह का व्यक्तित्व अपने आप झलकता है। इसी तरह इनकी कहानियों के शीर्षक पाठक वर्ग को चौंकाते हैं। विश्वविद्यालयी व्यवस्था से जुड़े होने के कारण उसके विकृत स्वरूप का उद्‌घाटन ख़ासतौर पर उनकी रचनाओं का विषय बना है। इनकी रचनाओं में यथार्थ का कठोरपन विद्यमान है। दूधनाथ सिंह की रचनाएं किसी भी समय में लिखी गई हों वे समकालीन जीवन बोध से संपृक्त हैं।

कहानी साहित्य : –

(1) सपाट चेहरे वाला आदमी

सपाट चेहरे वाला आदिमी (1967) दूधनाथ सिंह का पहला कहानी संग्रह है, इसमें लेखक की प्रारम्भिक दौर की कहानियाँ संकलित हैं। कहानियों को पढ़ने से ऐसा नहीं लगता कि यह लेखक का प्रारम्भिक प्रयास है क्योंकि विषयवस्तु को जिस सजगता से परोसा गया है, उससे कथा संगठन शिथिल नहीं होने पाया है। यह दूसरी बात है कि इस संग्रह की कुछ कहानियाँ पाठक से एक बार से अधिक पढ़ने की मांग करती है। मुख्य रूप से 'रीछ' और 'कोरस' कहानी के साथ पाठक वर्ग ऐसा ही अनुभव करता है। पाठक इन दोनों कहानियों को एक दो बार पढ़कर भी उस अन्तिम मन्तव्य तक पहुंचने में अपने को असमर्थ पाता है जिसको लेखक व्यक्त करना चाहता है। संग्रह की अधिकांश कहानियां 'नैरेटर' की भूमिका में या यूं कहें, एकालाप की तरह लिखी गई हैं। इन कहानियों में परम्परागत पात्रों को नकार दिया गया है और उसकी जगह कहानी के प्रमुख पात्र 'मैं' को ही अधिकांश कहानियों का मुख्य वक्ता बनाया गया है, हम ऐसे पात्र के साथ–साथ उसके वर्तमान, अतीत और भविष्य में डुबकी लगाते हुए ढेर सारे पात्रों की स्थितियों और उनके मनोजगत का परिचय प्राप्त करते हैं।

इस संग्रह की कहानियों में केवल बौद्धिकता ही प्राप्त नहीं होती, बल्कि मानवीय संबंधों और आज के मनुष्य के पीड़ित अन्तस्थल को अन्दर तक झकझोर देने वाली भावुकता के भी दर्शन होते हैं। ये कहानियाँ केवल शहरी परिवेश को ही नहीं उभारतीं, बल्कि इनमें शहर और ग्रामीण परिवेश का मिलाजुला स्वरूप आवश्यकतानुसार प्रस्तुत किया गया है। यह अवश्य है कि इनके पात्र अधिकांशतः मध्यवर्गीय व्यक्ति हैं जो प्रायः मूल्य और विघटन की स्थिति में जीने को बाध्य हैं।

संग्रह की पहली कहानी 'रीछ' में 'रीछ' को इस रूप में प्रस्तुत किया गया है कि वह एक साथ प्रतीक और पात्र दोनों दिखाई देता है। यह प्रतीक मूर्त और अमूर्त दोनों रूपों को साथ–साथ उभारता है। वास्तव में इस कहानी के नायक का अतीत यह है कि विवाह से पूर्व एक उसकी प्रेमिका थी। वह उससे गहरा प्यार करता था। विवाह के बाद भी प्रेमिका के साथ बिताए गए क्षणों की स्मृति उसका साथ नहीं छोड़ती। वह लाख कोशिश करके भी उसे भुला नहीं पाता। उसका अतीत प्रायः उस समय उस पर हावी हो जाता है जब वह पत्नी के साथ बिस्तर में होता है। परिणामस्वरूप वह अपने वैवाहिक जीवन को नरक बनने से बचाने के लिए अपने अतीत को अपनी पत्नी से छिपाता है। वह अपने अतीत को जितना छिपाना चाहता है, उतना ही वह खूँख़ार होता जाता है। संग्रह की अन्य कहानियाँ भी ऐसी ही दुरुहता को ओढ़े हुए हैं। सपाट चेहरे वाला आदमी के अतिरिक्त संग्रह की अन्य कहानियाँ – 'रीछ', 'दुःस्वप्न', 'सब ठीक हो जाएगा', 'प्रतिशोध', 'आइसबर्ग', 'कोरस', 'रक्तपात' आदि हैं।

(2) सुखान्त

सुखान्त (1971) दूधनाथ सिंह की कहानियों का दूसरा संग्रह है। इस संग्रह की कहानियाँ कहानीकार के कथन की भंगिमा में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं करती। यह अवश्य है कि इसमें इनकी कहानी कला का रूप धीरे–धीरे विकास की ओर अग्रसर हुआ है। इस संग्रह की भी अधिकांश कहानियाँ लगभग उसी दौर में लिखी गयीं जब 'सपाट चेहरे वाला आदमी' संग्रह संकलित हुआ। इन दोनों संग्रहों की कहानियों में एक प्रकार की ताजगी और नएपन का एहसास विद्यमान है।

सुखान्त कहानी संग्रह को अपने पूर्ववर्ती संग्रह से इस रूप में भिन्न कहा जा सकता है कि इसमें 'अकहानी' आन्दोलन के प्रभाव का वह रूप नहीं मिलता जो 'सपाट चेहरे वाला आदमी' में उभर कर सामने आया था। इस संग्रह की कहानियों में अमूर्तीकरण और उलझाव की प्रवृत्ति को देखा जा सकता है। इसमें जिस व्यवस्था का चित्रण लेखक ने किया है वह आज के समाज में स्पष्ट और यथार्थ रूप में पूरी तरह से नहीं मिल सकती। फिर भी 'स्वर्गवासी' का कृष्णलाल और 'विजेता' का 'मैं' इसका कुछ आभास अवश्य देते हैं। 'उत्सव' में जिस वातावरण और परिवेश को रूपायित किया गया है, उसके चलते आदमी के पशु हो जाने की स्थिति का अंकन है। इसी प्रकार 'शिनाख़्त' कहानी में देखा जाए तो रागात्मक संबंधों के कारण और अन्तः निषेध का जो रूप उभरता है, वह 'अकहानी' से ही प्रभावित कहा जा सकता है। अपने परिवेश से गहरे रूप में जुड़ने की कोशिश दूधनाथ सिंह के इस कहानी संग्रह में देखी जा सकती है। व्यक्ति चरित्र के आन्तरिक रूप को भाषा और क्रियाकलापों के द्वारा उभारकर सामने लाने में वे अधिक सफल रहे हैं। इन कहानियों में लेखक की तरफ से किसी प्रकार का लाग–लपेट नहीं है, बल्कि जो जैसा है, उसे उसी रूप में परोसने का प्रयास किया गया है। इतना अवश्य है कि 'उत्सव' और 'सुखान्त' के परिवेश को कुछ ज़्यादा ही लेखक ने रँगने की कोशिश की। फिर भी उसकी विश्वसनीयता पर कोई आँच नहीं आने दी। इस बात की ओर इशारा करते हुए डॉ. विश्म्भरनाथ उपाध्याय ने कहा है – "दूधनाथ सिंह की कहानियाँ अनुभूतियों के भँवर जाल के कारण नई कहानी और आज की सपाट कहानियों के बीच की कड़ियों-सी जान पड़ती हैं। किन्तु कथ्य की दृष्टि से वे एकदम आज की कहानियाँ हैं। इनमें कथ्य को स्वादिष्ट बनाने का कोई प्रयोजन नहीं हैं।"[21] सुखान्त के इस संग्रह में पाँच कहानियाँ हैं, जो इस प्रकार है – 'स्वर्गवासी', 'शिनाख्त', 'उत्सव', 'विजेता' और 'सुखान्त'।

(3) माई का शोकगीत

दूधनाथ सिंह के तीसरे कहानी संग्रह का प्रकाशन सन् 1992 में हुआ। कहानियाँ उनके कहानीकार व्यक्तित्व के विकास–क्रम का दूसरा और दमदार रूप हमारे सामने प्रस्तुत करती हैं। सातवें दशक का उत्तरार्द्ध जब 'अकहानी' आन्दोलन

अपने चरम पर था, अतः इससे कहानीकारों का प्रभावित होना स्वाभाविक ही था। परन्तु इसके साथ ही साथ कहानीकारों द्वारा सामाजिक एवं राजनीतिक दृष्टि से बुनियादी और व्यवस्थागत परिवर्तन की आकांक्षा को रूपायित करने वाली कहानियाँ भी लिखी जा रही थीं। दूधनाथ सिंह ने इस संग्रह में भी इसी व्यवस्थागत परिवर्तन को ही लक्ष्य करके कहानियाँ लिखीं, जो अपने समय के सामाजिक और राजनीतिक प्रश्नों के साथ–साथ जनता की पीड़ा, आकांक्षाओं और उम्मीदों से गम्भीर रूप में जुड़ी। इस अकहानी आन्दोलन का ज्वर उतर जाने के बाद दूधनाथ सिंह लम्बे समय तक चुप्पी साधे रहे। उनकी रचनात्मकता के दूसरे दौर की सहभागी कहानियाँ न केवल अकहानी के प्रभाव से मुक्ति का प्रमाण प्रस्तुत करती है बल्कि एक नये सिरे से कहानी विधा के क्षेत्र में सक्रिय और संश्लिष्ट संरचना की वापसी का भी संकेत देती हैं। भारतीय परिवेश और उसके यथार्थ धरातल पर जीने वाले मनुष्यों के सामाजिक सन्दर्भों में पिसने वाले व्यक्ति की चीख़–पुकार से इस दौर की कहानियों का निकट सम्बन्ध है। कहानीकार ने संग्रह के आवरण पृष्ठ पर इस बात को स्वीकार करते हुए लिखा है, "सकारात्मक एवं सहज संवेदनाएं जिन्हें दर–किनार कर कहानी में अध्यात्म और दर्शन की थोथी चर्चा उठायी जा रही है, ये कहानियाँ उसके विरुद्ध हैं और यथार्थ निष्ठ सामाजिक सन्दर्भों में जीवित मनुष्य से गहरे तक जुड़ी हैं। भारतीय मनुष्य के स्वप्न और संघर्ष और उसकी मुक्ति की छटपटाहट और अवरोध यानी उसका अतीत और भविष्य उसके इसी जीवित वर्तमान में पहचाने जा सकते हैं।"[22]

इस प्रकार इस संग्रह की कहानियो में संवेदना के कई धरातल दिखाई पड़ते हैं। 'सपाट चेहरे वाला आदमी' संग्रह के प्रकाशन के साथ जो दूधनाथ सिंह एक शहरी निम्न मध्यवर्ग के कहानीकार के रूप में उभरे थे, उन्हें यह शहरीपन ज्यादा दिन तक लुभा नहीं सका। परिणामस्वरूप इस संग्रह में उन्होंने बहुत कुछ गाँव की माटी और दिखावे से रहित, सरल व्यवहार वाली ग्रामीण संस्कृति में जीने वाले भोले–भाले ग्रामीणों के अंतस्थल को टटोला। उनके इस संग्रह की कहानियों में कहानीपन है भी और नहीं भी है। यानी दोनों ढंग की कहानियाँ यहाँ मिलती हैं। इस संग्रह की कहानियों में शिल्प की सजावट का उतना आग्रह नहीं है, फैंटेसी का अकारण मोह भी नहीं है। यहाँ कहानियों का प्रतीक विधान कलात्मक, सरल और

अर्थगर्भित है। कहानियों की भाषा में जयादा उलझाव नहीं, बल्कि सपाटबयानी और भावुकता का पुट है। इस संग्रह की कहानियाँ पूर्ववर्ती अन्य कहानियों की तुलना में अधिक विश्वसनीय, प्रतिभाशाली और मानव मन को छूने वाली हैं। संग्रह मे पाँच कहानयाँ हैं – 'हुंडार', 'जार्ज मेकवान', 'गुप्तदान', 'लौटना' और 'माई का शोकगीत।

(4) प्रेम कथा का अन्त न कोई

दूधनाथ सिंह का चौथा कहानी संग्रह 'प्रेम कथा का अन्त न कोई' सन् 1992 में प्रकाशित हुआ। इस संग्रह की कहानियाँ भी 'सपाट चेहरे वाला आदमी' और 'सुखान्त' कहानी संग्रह की कहानियों के दौर में ही लिखी गई। परन्तु लेखक की लापरवाही के कारण कहानियों का यह संग्रह लगभग तीस वर्ष बाद छपा। इसीलिए इन कहानियों में 'माई का शोकगीत' संग्रह वाली मानसिकता का दर्शन नहीं होता है, बल्कि इसमें 'सुखान्त' और 'सपाट चेहरे वाला आदमी' संग्रह की प्रवृत्ति का और अधिक मुखर रूप उभर कर सामने आया है। यह संग्रह इस बात में अन्य तीनों संग्रहों से भिन्न है कि इसमें जितनी भी कहानियाँ रखी गयी हैं उन सब का मुख्य विषय प्रेम है। इसी को ध्यान में रखकर कहानीकार ने इसका शीर्षक 'प्रेम कथा का अन्त न कोई' रखा जबकि अन्य तीनों संग्रहों का नामकरण उसमे निहित अंतिम कहानी के नाम पर रखा गया था।

एक ओर बात जिसे इस संग्रह की कहानियाँ आगे बढ़कर प्रस्तुत करती हैं, वह है लेखक का यथार्थ के प्रति आग्रह और सत्य को उधेड़कर सामने प्रस्तुत कर देने की कला जिससे कि पाठक तपाक् से कह दे कि यह वही तथ्य है जिसकी हमें तलाश थी।

इस संग्रह की कहानियाँ प्रेम के रूप को प्रस्तुत तो अवश्य करती हैं, परन्तु उनमें किसी देवदास का आदर्श नहीं है। दैनिक जीवन के साथ–साथ चलने वाले प्रेम, सेक्स और रोमांस का मिला–जुला सपाट और सरल रूप, जिसमें किसी प्रकार की बनावट नहीं है और जो शादी से पहले और बाद में भी चलता रहता है, को अभिव्यक्ति प्रदान की गई है। यद्यपि शादी के बाद विवाहेतर संबंध को लेखक केवल सेक्स मानता है, प्रेम नहीं। फिर भी अपने चारों ओर जिस तरह का वातावरण है और

उसमें जीने वाले लोग जिस तरह का प्रेम स्वीकार करते हैं, और मान्यता देते हैं, उसका उसी रूप में चित्रण करना लेखक की मजबूरी है।

इस संग्रह की अधिकांश कहानियाँ असफ़ल प्रेम को उजागर करती हैं। यह असफलता दाम्पत्य जीवन में अधिक भयावह रूप में उभरकर सामने आयी है। इन कहानियों के पुरुष पात्रों का वर्चस्व नारियों पर उतना नहीं है जितना नारियों का पुरुषों पर। इस संग्रह के माध्यम से कहानीकार आज के बदलते हुए सामाजिक परिवेश को पकड़ने का प्रयास करता है। इन कहानियों के पात्र प्रेमी और प्रेमिका आदि इसी संसार के हैं। वे आज की स्थिति में असफ़ल प्रेम के चलते कुण्ठा, घुटन, ऊब, बेबसी और अन्तर्द्वन्द्व को ढोते फिरते हैं। इनका यह प्रेम व्यापार गली में, छत पर, पढ़ते समय, बिस्तर पर, क्लब और होटल में, पहाड़ों और जंगलों में सारी जगहों पर थोड़ा सा अवसर मिल जाने पर ही चलता रहता है।

इस संग्रह की कहानियों का प्रेम अधिकांशतः मध्यवर्गीय परिवार के बीच पलने वाले प्रदर्शन रहित और जीवन का अंग है, न कि बाहर से पाठकों के लिए चाशनी के रूप में सेक्स और बिस्तर की गर्माहट का थोपा हुआ लिजलिजापन। इनके पात्र अपनी शराफ़त को प्रदर्शित करने के लिए स्वयं की बुराईयों पर पर्दा नहीं डालते, बल्कि दिल के भीतर विद्यमान पशुता, क्रूरता, नादानी और ख़ालिसपन की कमज़ोरी का जी खोल बयान करते हैं। वे पाठकों से यह माँग करते हैं कि अब तुम्हें जो कुछ समझ पड़े कह डालो, हम तो यही है, और यही बने रहेंगे। इसीलिए इन कहानियों के सम्बन्ध में कहानीकार दूधनाथ सिंह का दावा है कि – "प्रेम को पाने और उसके भीतर से जिंदगी को बांधे रखने के लिए ज़बर्दस्त इच्छाओं का संसार इन कहानियों में व्यक्त है। इच्छाओं का यह संसार दाम्पत्य के भीतर और बाहर दोनों जगहों पर है। इसीलिए पुराने और परिचित अर्थों मे से ये प्रेम कथाएँ नहीं हैं। प्रेम को लेकर इसके पात्र अपने अधिकार क्षेत्र से बार–बार बाहर जाते हैं।"[23]

दूधनाथ सिंह ने इस संग्रह में लीक से हटते हुए सामंती माहौल में औरत को प्रताड़ित करने, जलाने, ज़हर देने और रस्सी से टाँग देने वाली कला का बहिष्कार किया। फिर भी इसके प्रेम को प्राप्त करने और उसके मार्फ़त जिंदगी को चलाने हेतु अदम्य इच्छाओं की अभिव्यक्ति मिलती है। इसीलिए ये कहानियाँ

पारम्परिक प्रेम को नकारती हैं और वर्तमान परिवेश में पलने वाले प्रेम का दूसरा ही रूप हमारे सामने उभारती हैं जो कि पूर्ववर्ती रूप की अपेक्षा अधिक व्यावहारिक विश्वसनीय और अन्तर्मन को छूने वाला है। संग्रह में पाँच कहानियाँ हैं, जो हैं – 'वे इन्द्रधनुष', 'बिस्तर', 'ममी तुम उदास क्यों हो', 'सीखचों के भीतर', 'आज इतवार था' आदि।

(5) धर्मक्षेत्रे–कुरुक्षेत्रे

'धर्मक्षेत्रे–कुरुक्षेत्रे' दूधनाथ सिंह का पाँचवा कहानी संग्रह हैं। इसका प्रकाशन सन् 2001 में हुआ था। यह कहानी संग्रह लम्बे अंतराल के बाद दूधनाथ सिंह का कहानी जगत में पुनः एक धमाका है जो उनके विकास क्रम की एक अलग पहचान बनाता है, इसमें वे कथ्य से ही नहीं, बल्कि शिल्प के क्षेत्र में भी लीक से हटते हुए दिखाई पड़ते हैं। इसी के चलते लेखक ने इस संग्रह को यह नाम दिया। हमारे समाज में यह संघर्ष चल ही रहा था परन्तु अब तो धर्मक्षेत्र में भी यह कुरुक्षेत्र मचा हुआ है और लोग धर्म की आड़ में न जाने क्या–क्या गुल खिला रहे हैं ? इस संग्रह की कहानियाँ इन विसंगतियों को उभारती हैं। धर्म से दूधनाथ सिंह का तात्पर्य धर्म या मज़हब और साथ ही मानव धर्म से भी है। अतः इन दोनों ही क्षेत्रों में चलने वाले संघर्ष और विद्रूपता को दूधनाथ सिंह ने स्वर दिया।

धर्म को आधार बनाकर लिखी गई संग्रह की प्रथम कहानी 'काशी नरेश से पूछो' और अंतिम कहानी 'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे' धर्मक्षेत्र में मचे कुरुक्षेत्र को प्रतिपादित करती है। 'काशी नरेश से पूछो' कहानी आज के तथाकथित दम्भी और जनता को लूटने वाले पोंगा–पंथी पण्डितों, ओर भेड़िया–धसान प्रवृत्ति के चलते प्रदूषण का जमघट बनते भारतीय संस्कृति के केन्द्रों में बढ़ते हुए अत्याचार का पर्दाफ़ाश करती है। झूठे शास्त्रार्थ की सड़ी–गली, परम्परा को घसीटने वाले त्रिपुण्डधारी विद्वानों का कच्चा–चिट्ठा खोलती है, साथ ही चेला मूड़ने वाली पंथिक परिपाटी को एक करारा धक्का है। दूधनाथ सिंह ने उसी परम्परा से पैदा होने वाले प्रगतिशील धार्मिक 'लंगड़ महाराज' के माध्यम से आज के माहौल में चलने वाले इस धार्मिक कर्मकाण्ड की 'धकाधूम प्रवृत्ति' को उखाड़ फेंकने का आह्वान किया है।

शासक वर्ग और पुरोहित वर्ग दोनों की भूमिका समाज में समान रूप से है, दोनों ही जनता को लूटने–खसोटने वाले हैं। शासकवर्ग तरह–तरह से जनता के ऊपर अत्याचार करके अपनी निरंकुश सत्ता चलाता है। पुरोहित वर्ग भी भोली–भाली जनता को धर्मान्ध करके अन्धविश्वासों की आड़ में उनका शोषण करते हैं। इस प्रकार दोनों जनता के शोषक हैं और जनता से प्राप्त होने वाले धन को मिल बाँट कर खाते हैं।

'धर्मक्षेत्रे–कुरुक्षेत्रे' कहानी मूल रूप से काफी पुराने अतीत में ले जाकर छोड़ देती है। फिर वह तात्कालिक परिवेश में पलने वाले पूंजीवादी व्यापार के फैलाव, विसंगतियों और उसमें संलग्न व्यक्ति की व्यावसायिक कलाबाज़ियों को एक–एक कर भलीभाँति उभारती चलती है। यद्यपि कहानी अतीत की है परन्तु वर्तमान में भी यह हमें अधिकाधिक छूती है। पूंजीवादी व्यवस्था के विस्तार में फंसने वाला गाँव का सरल व्यक्ति भी एक क्रूर दानव की भूमिका अदा करता है। वह नैतिक रूप से इतना गिर गया है कि उसे अपनी बहन और बेटी को बाजार की वस्तु बनाने में तनिक भी हिचक नहीं महसूस होती। उसे पैसा चाहिए, सिर्फ पैसा। भले ही जानवर चुराकर, सेंध लगाकर या फिर अपनी बहू बेचकर। कहानी का 'सिऊ महतो' इसी प्रकार की मानसिकता से ग्रस्त है। वह अपनी बहू को गर्भवती अवस्था में बेचने के लिए जंगल में ले जाकर सीकड़ से बाँध कर रखता है। यह स्थिति व्यक्ति के जानवर हो जाने की मानसिकता का परिणाम है।

यद्यपि परिस्थितियाँ बदल गयी हैं, फिर भी आज औरत बिक्री की वस्तु बनी हुई है। पुराने रूप में न सही, आधुनिक बाज़ारू तरीक़े से ही सही, पर बिक अवश्य रही है। यह जो सामाजिक परिवेश पुरुष द्वारा खड़ा किया गया है, उसके चलते सीकड़ से बाँधकर न सही पैसों के ही लालच में वह स्वेच्छा से बिकने को मजबूर है। इसलिए कहानी हमें आज भी उसी गहराई से छूती है। कहानी में सारे समय पिता का साथ देते रहने के बावजूद अंत में बच्चे को जिंदा दफनाए जाने के प्रश्न पर 'मरकटवा' की निर्दयता जवाब दे जाती है। जिसका परिणाम पिता के साथ खूनी युद्ध होता है और दोनों ही ढह जाते हैं। यहाँ 'मरकटवा' के रूप में आज के युवक का सामाजिक बुराईयों के प्रति विद्रोह का स्वर उभारा गया है। दोनों के ढह जाने का चित्रण यह दिखाता है कि आज की सामाजिक बुराईयों के विरोध में अकेले व्यक्ति के

उठ खड़े होने का भी वही हस्र होगा जो 'मरकटवा' का हुआ। अतः आज आवश्यकता है सम्पूर्ण जागरण की। फिर भी दूधनाथ सिंह का अंतिम समय में 'मरकटवा' के हृदय परिवर्तन द्वारा क्रूरता पर मानवता की विजय दिखाना यह संकेत है कि जिस संकल्प के चलते 'मरकटवा' ने अपना बलिदान दिया, वह सफल रहा। उपर्युक्त दोनों कहानियों के अलावा सात कहानियाँ संग्रह में और हैं, जो हैं – 'रेत', 'दुर्गन्ध', 'सन्नाटा चाहिए', 'आख़िरी छलाँग', 'नपनी', 'वह लौटता नहीं' आदि।

उपन्यास साहित्य : –

निष्कासन

'निष्कासन' दूधनाथ सिंह का पहला उपन्यास है। इसमें शिक्षा क्षेत्र के भीतरी ढाँचे की विसंगतियों का उद्‌घाटन किया गया है। कहानी के केन्द्र में हैं "मृदुला साराबाई गर्ल्स हॉस्टल।" इस हॉस्टल में रहकर एक दलित 'लड़की' विश्वविद्यालय में अध्ययन कर रही है। इस उपन्यास में लेखक ने 'लड़की' के मानसिक और शारीरिक शोषण षड्‌यंत्र को बड़े फ़लक पर चित्रित किया है। हॉस्टल की अधीक्षिका डॉ. श्रीमती महिस्मती हैं। उनके पति शार्दुल विक्रम सिंह विचारों से वामपंथी और नेता हैं। साथ ही साथ उपन्यास में पुलिस, सांसद, विधायक वर्ग के अनेक पात्र हैं। इन सभी पात्रों के माध्यम से उपन्यासकार ने इन वर्गों के व्यक्तियों के मनमाने व्यवहारों और कुटिलताओं का पर्दाफ़ाश किया है। उपन्यास का आरम्भ बहुत रहस्यमय ढंग से छात्रावास परिसर में "एक बड़े से पुराने आलीशान बंगले के सजे–सजाये रसोईघर में, जिसे आजकल 'किचेन' कहते हैं। कुछ अटपटे ढंग से वह लड़की किचेन में खड़ी है"[24] से होता है। अधीक्षिका के ड्राइंगरूम में बैठा कोई व्यक्ति लड़की का इन्तजार कर रहा है और उसे सजा–धजा कर भेजने की तैयारी की जा रही है। 'लड़की' समझ जाती है और वहाँ से भागकर अपने कमरे में वापस आ जाती है। दलित 'लड़की' की बड़ी बहन भी इसी हॉस्टल में रहकर पढ़ती थी, नौकरी मिलने पर अपने कमरे में अपनी छोटी बहन को रखकर वह दूसरे शहर में चली गई थी। 'लड़की' पर अधीक्षिका की नज़र पड़ी और उसने उसे इस्तेमाल करना चाहा। जब 'लड़की' को पता चलता है कि वह मैम के षड्‌यंत्र का शिकार है तो वह जबर्दस्त विरोध करती है और भागकर अपनी इज्जत बचाती है। मैम की बात न मानने, विरोध करने के एवज में लड़की को तंग करने और निष्कासित करने का सिलसिला आरम्भ होता है। अपनी बड़ी बहन और उसके दोस्त मनोज से मिलकर 'लड़की' इस घटना का विरोध करना चाहती है, लेकिन इस विरोध की परिणति जिस दुखद रूप में होती है, उससे हॉस्टल के अधिकारियों, विश्वविद्यालय के वरिष्ठ प्रोफ़ेसर और वामपंथी नेताओं के भ्रष्टाचार और चरित्रहीनता का पूरा तंत्र हमारे सामने उभरता है। मैम ही नहीं बल्कि हॉस्टल, कॉलेज के अन्य छात्र भी इस दलित 'लड़की' को तरह–तरह से तंग करते हैं। "छोटी

बहन यानी हमारी कहानी की 'लड़की' की बहुत सारी समस्याएँ विकराल रूप से बढ़ गई हैं। यूनिवर्सिटी कैम्पस में, कलास में, आते–जाते और हॉस्टल में, मैस में लेवेटरी और नहानघर में और तो और मैम के साथ भी।"[25]

पूरे तंत्र की कोशिश है कि हॉस्टल से 'लड़की' का निष्कासन हो जाए। ख़ासतौर पर वामपंथी नेता और कॉमरेड भी इस जघन्य कृत्य में संलग्न हैं। और वे भी लड़की के निष्कासन की भरपूर कोशिश में लगे हुए हैं। मनोज इस बात पर विश्वास नहीं करता और वह कॉमरेड शार्दूल विक्रमसिंह से पूछताछ करना चाहता है। वह एफ.आई.आर. दर्ज कराने में भी हिचकिचाता है। उसके इस संशय को देखकर 'लड़की' की बड़ी बहन, मनोज से कहती है "हमारी ऐसी ही कौन सी इज़्ज़त है जो उतर जायेगी और तुम्हारे समाज में इज़्ज़त उतरकर भी बची रहती है। अफ़वाहें हमारा कुछ नहीं बिगाड़ सकतीं। मुझे पिछले पाँच वर्षों से यही लगता रहा कि यह हॉस्टल नहीं चकलाघर है। यूनिवर्सिटी सदाचारी कमीनों का कबाड़ख़ाना है।"[26]

अन्य क्षेत्रों के साथ–साथ शिक्षा के क्षेत्र में भी दलित विद्यार्थियों के साथ अमानवीय और बदसलूक व्यवहार किया जाता है। 'निष्कासन' उपन्यास उसका जीता जागता सबूत है। साथ पढ़ने और रहने वाले सवर्ण छात्रों को दलित छात्रों से बदबू आती है। "उस ब्लॉक में जाओ तो संडास की बदबू बाद में आती है, इनकी पहले। अजीब बास मारती हैं यार, और सबकी सब !"[27] क्लास में भी उसे सवर्ण छात्रों के व्यंग्य बाणों को सहना पड़ता है – "जिस लड़के ने डि–क्लास और डि–कास्ट वाली बात उठायी थी, उसने ब्राह्मण कहा तो किसी ब्राह्मण की तरफ नहीं देखा, लेकिन जब शूद्र कहा तो लड़की को घूरते हुए कहा। उसकी आँखों में कुछ अजीब-सा था बहशत या उपहास या नफ़रत या फ़्लर्टेशन, फर्क करना मुश्किल था।"[28]

इस उपन्यास की कहानी में जितना दलित विमर्श है उतना ही स्त्री विमर्श भी। इस उपन्यास की यह 'लड़की' हर शोषित लड़की का प्रतीक जान पड़ती है। समाज के हर क्षेत्र में स्त्री ही शोषण का शिकार रही है चाहे वह क्षेत्र कितना ही सम्मानजनक क्यों न हो ? 'लड़की', हॉस्टल, विश्वविद्यालय परिसर और क्लास में ही शोषित नहीं होती बल्कि हॉस्टल से निकाले जाने के बाद, बस्ती में रहते हुए आवारा लड़कों के 'अश्लील शब्दों की मार' भी उसे सहन करनी पड़ती है। स्त्री को हर

कोई शोषण की वस्तु समझता है और अकेला पाते ही उस पर अपना अधिकार समझता है।

हॉस्टल जो बाहर से आने वाली छात्राओं को सुरक्षित रखने का स्थान प्रदान करता है, वह यौन शोषण का अड्डा बना हुआ है। 'लड़की' को हॉस्टल से निकाल देना और उसको एक गंदी बस्ती में रहने को मजबूर करना शासन तंत्र की कमज़ोरी व्यक्त करता है। लड़की के पास कोई और विकल्प नहीं बचता, बस्ती के असहनीय वातावरण में रहने के सिवाय। हॉस्टल में रहने के लिए मनमाना पैसा देना और न देने पर 'और कुछ देने की माँग' से वह क्षुब्ध, हताश और व्यथित हो जाती है।

'निष्कासन' उपन्यास की 'लड़की' एक लड़की ही नहीं है बल्कि वह एक ऐसी 'प्रतिवेदनी है, जो प्रत्येक समय के समाज में मौजूद है और जिसे न्याय के स्थान पर सदा घृणा, यातना और अपमान मिला है। उसका सदैव गुहार लगाना 'आप ही मुझे न्याय दिला सकते हैं' में कोई भी उसे न्याय नहीं दिला पाता और अंततः वह आत्मदाह कर लेती है।

TH-13294

अपने एक साक्षात्कार में दूधनाथ सिंह कहते हैं, "यहाँ आत्मवध एक नैतिक प्रतिशोध है। यह कथा के अंतरंग से निकलने वाली एक ऐसी निष्पति है जिसका कोई और विकल्प नहीं सारे आत्मघात कायर निर्णय नहीं होते। अधिकांशतः वे इस समाज से एक जलता हुआ प्रतिशोध है। सारी लड़ाई लड़ चुकने और पस्त हो जाने के बाद आत्मवध एक पॉजिटिव तर्क है, जिसे लोग नहीं समझते। सत्ता की शक्ति हमें थका सकती है, पराजित कर सकती है, तब ? तब आत्मघात एक पैसिव रेजिस्टेन्स जैसा प्रतिशोध है।"[29]

दूधनाथ सिंह ने 'निष्कासन' में लड़की को मरते दम तक संघर्ष करते हुए दिखाया है जिससे वह यह दिखाना चाहते हैं कि सदैव अन्याय के विरुद्ध लड़ते रहो ? चाहे उसकी परिणति कुछ भी क्यों न हो ?

'निष्कासन' उपन्यास की कथावस्तु अत्यंत दिलचस्प है, जो कि महिला छात्रावास की अंतरंग दुनिया से परिचित कराती है। लेखक को लड़कियों के मनोजगत की अच्छी ख़ासी पहचान है, वहीं ज़रूरत से ज़्यादा अश्लील वाक्याशों की उपन्यास में भरमार है जो खलते हैं। भाषा बेहद रोचक बन पड़ी है।

Jawaharlal Nehru University Library

आख़िरी कलाम

"एक बड़ा कवि एक ही कविता बार–बार जीवन भर लिखता है लेकिन एक बड़ा कथाकार हर बार एक अनहोनी और अलग कहानी लिखता है। दूधनाथ सिंह ने कभी अपने को दुहराया नहीं इसीलिए उनका संवेदनात्मक अन्वेषण और नवोन्मेष हर बार पाठकों को हैरत में डालता है और अक्सर उन्हें अस्त–व्यस्त कर देता है।"[30] दूधनाथ सिंह ने सदैव अपनी प्रत्येक रचना में नए विषय का प्रतिपादन किया है। उनकी प्रत्येक रचना नए विषय, नए भाव बोध, नए सामाजिक दायित्व और नए मूल्यों को स्थापित करती रही है। यही कोशिश उनके उपन्यास 'आख़िरी कलाम' में भी है। लम्बे समंय से विवादित विषय 'रामजन्मभूमि बाबरी–मस्जिद' विवाद को उपन्यास के केन्द्र में रखा गया है।

इस समस्या पर वैचारिक लेखन तो बहुत हुआ है पर कथा साहित्य की सृष्टि कम ही हुई है। दूधनाथ सिंह ने इस उपन्यास के माध्यम से ऐसी भयावह चुनौती से टकराने का प्रयास किया है जिसका अभी तक कोई समाधान नहीं निकला है।

'आख़िरी कलाम' उपन्यास की शक्ल में एक त्रासदी ही है, किसी एक व्यक्ति की नहीं, पूरी जाति की और ज़ातीय अस्मिता की। ऊपर से देखने में यह बाबरी मस्जिद ध्वंस को केन्द्र में रखकर लिखी गई है परन्तु इसमें मनुष्यता के लहूलुहान होने की त्रासदी भी है। इस उपन्यास के एक पात्र तत्सत पांडेय के माध्यम से लेखक ने समाज को बदलने, राजनीतिक चालों को ध्वस्त करने, धर्म के विखण्डन को रोकने, अंधविश्वास और अंध आस्था जैसी रूढ़िवादी विचारधाराओं पर अंकुश लगाने की कोशिश है। आपसी वैमनस्य, घृणा, घुटन और विषम परिस्थितियों को नकारकर भाईचारे की भावना, साफ़गोई और नैतिकता, प्रगतिशीलता जैसे विचारों को सदैव उच्च स्थान पर रखने की पैरवी की है उपन्यास के इस केन्द्रीय पात्र ने।

उपन्यास के नायक तत्सत पांडेय के अलावा अन्य पात्र हैं सर्वात्मन उनका मार्क्सवादी शिष्य, बिल्लेश्वर पालित पौत्र, जिसे आचार्य जी 'नचिकेता' कहते हैं और वह नचिकेता आचार्य जी की 'मृत्यु का रहस्य जानने के लिए उनके साथ है। उपन्यास में गायत्री, अचेतानन्द और लहँकट बाबा जैसे पात्र हैं जिनकी धर्म–संबंधी

अपनी व्याख्या है। उपन्यास में 'जमील मियाँ' जैसा एक शरीफ पात्र भी हैं। यह पात्र हिन्दुत्ववादी शक्ति की हिंसक बर्बरता का प्रत्यक्ष भोक्ता है। अन्ततः वह अपना मानसिक संतुलन खो बैठता है। आचार्य जी का एकमात्र पुत्र 'श्रेष्ठ ब्राह्मण' वैज्ञानिक' के रूप में अमेरिका में शोधरत हैं। अयोध्या में कम्युनिस्ट कार्यकत्ता मिसिर जी हैं जो पार्टी के व्यवहार, सिद्धान्त एवं ज़मीनी हक़ीक़तों के अन्तर को समझते हुए कहीं अधिक व्यावहारिक हैं और कम्युनिस्ट आन्दोलन 'स्फटिक फाँक' को स्पष्ट करते हैं। इन सबके अलावा आचार्य जी की पत्नी, पोता रविकान्त और उसकी पत्नी सुहासिनी, कफ्फार मियाँ, पाँच मुस्लिम बूढ़े, जातीय श्रेष्ठता का दम्भ भरता दारोगा, कट्टर बिजलानी परिवार आदि पात्र भी उपन्यास में मौजूद हैं।

तत्सत पांडेय के पिता गरीब और यजमानी वृत्ति वाले ब्राह्मण हैं। उनका पूरा परिवार पुरोहिताई पर पलता है। वे गरीब अवश्य थे लेकिन पुत्र की प्रगति के लिए हर साँस से चिन्तित थे। तत्सत को पढ़ने के लिए उन्होंने विदेश भेजा। वे जब विदेश से शिक्षा पूरी करके लौटे तो पूरब के आक्सफोर्ड (इलाहाबाद युनिवर्सिटी) में प्रोफ़ेसर बहाल हुए। उपन्यास में उपन्यासकार उनके शिष्य सर्वात्मन के रूप मे उपस्थित है। तत्सत पांडेय का पुत्र माध्वानन्द अपने पिता के मार्ग पर न चलकर भी उनकी ही तरह प्रतिभाशाली है। हारवर्ड युनिवर्सिटी की फ़ेलोशिप पर वह अमेरिका चला जाता है। इस पात्र के माध्यम से दूधनाथ सिंह ने कथा के तंतु को विदेश तक फैला दिया है। दूधनाथ सिंह ऐसे उपन्यासकार हैं जिनका उपन्यास "आख़िरी कलाम अपने पाठकों को भी छिन्न–भिन्न करता है वह चाहे उसकी धर्मभावुकता हो या कथा–रस में ही ऊभ–चूभ करने का अभ्यास। दूधनाथ निराश नहीं करते, स्तब्ध करते हैं, प्रहार पर प्रहार डौमिनेंट आइडिलॉजी की चूलें हिलाकर रख देते हैं। यह भी कि उनकी हर रचना के पीछे एक विचार रहता है। जो दिख रहा है या दिखाया जा रहा है – वह नहीं देखना है। देखना वह है जिससे ध्यान हटाया जा रहा है।"[31]

तत्सत पांडेय के पुत्र माध्वानन्द का विवाह गायत्री से हुआ है। उसके जीवन की कुछ घटनाएं उसे पुरुषों से विमुख बना देती हैं और इस विमुखता को वह भरती है धर्मान्ध होकर। उसकी अतिशय धर्मभावुकता के पीछे पुरुष जाति के प्रति उसके मन में संचित घृणा है। गायत्री जब छोटी थी, उसने अपने पिता को किसी परस्त्री के साथ ऐसी–वैसी हालत में देख लिया था। समाज की नज़र में उसके पिता

एक सदाचारी ब्राह्मण थे। समूचे हिन्दी प्रदेश में उनकी यजमानी चलती थी। वे निकलते तो छह–छह महीने बाद घर लौटते। गायत्री ने अपने पिता का जो रूप देखा उसके बारे में उसने किसी से बताया नहीं, लेकिन यह बात उसके शिशु मानस में एक बार बैठ गयी तो अन्त तक बैठी रही। वह जानती थी कि उसके पिता अपनी वासना के लिए उसकी माँ पर कभी निर्भर नहीं थे। गायत्री को लगता है कि जैसे उसके पिता हैं, वैसे ही दुनिया के और सब पुरुष। ऐसे दुराचार, धोखेबाज़, ढोंगी और चरित्रहीन पुरुष अच्छे आचरण का स्वांग करते हुए दुनिया को गुरुमंत्र देते हैं और बड़ी–बड़ी बातें बखानते हैं। कोई भरोसे के क़ाबिल नहीं। ऐसा प्रतीत होता है व्यक्ति के मानस में ऐसी कोई बात बैठ जाती है और इससे बचाव के लिए वह धर्म की आड़ ले लेता है। तत्सत पांडेय के घर जहाँ कहीं पूजा घर का नामो निशान नहीं है वहाँ आने पर वह मंदिर की स्थापना करती है। गायत्री धर्म को पूर्णतः अपना हथियार बनाए हुए है। जिस घर में कहीं पूजा न हो, उस घर में पूजाघर की स्थापना अयोध्या आन्दोलन का बीज रूप है। जो कुछ अयोध्या में हो रहा है वही तत्सत पांडेय के घर में घटित हो रहा है। आरती, टुनटुनाती घंटियाँ, मंत्रोचार, सियावर रामचन्द्र की जै और बजरंग बली की जै, जो अयोध्या में हो रहा है उसी का प्रतिरूप उनके घर में उपस्थित है।

संक्षेप में कहें तो तत्सत पांडेय का पारिवारिक जीवन एकदम डाँवाडोल है। उन्हें अपने एकलौते पुत्र से गहरा लगाव है बल्कि वही उनका सब कुछ है। उनके परिवार में उनका पोता रविकान्त और उनकी पत्नी सुहासिनी भी है। गायत्री के व्यवहार से क्षुब्ध माध्वानन्द फ़ैलोशिप मिलने पर अमेरिका में ही बस जाता है।

इस परिवार में एक और पात्र है – बिल्लेश्वर। आचार्य जी का पाला हुआ और मुँहलगा। वह सदैव तत्सत के साथ रहता है और उन्हीं के अनुसार वह उनके मरने का रहस्य जानना चाहता है। परिवार में तत्सत पांडेय और माध्वानन्द की उच्च शिक्षा उन्हीं तक सीमित रह जाती है। रविकान्त और बिल्लेश्वर आगे नहीं पढ़ना चाहते थे और न पढ़े। रविकान्त एक दुकान खोल लेता है। गायत्री अपनी धर्मान्ध विरासत रविकान्त को सौंप देती है। वह प्रतिदिन ही पूरे जोर–शोर से हनुमान ज़ी की आरती और हनुमान चालीसा का पाठ करता है। मार्क्सवादी विचारों वाले तत्सत पांडेय के घर में यह एक अलग तरह का माहौल है।

इस उपन्यास की कथा बिखरी हुई है। उपन्यास में उपन्यास की परिभाषा को नकारा गया है। उपन्यास की शुरुआत में ही सर्वात्मन ने स्पष्ट कर दिया है कि यह कृति उन अर्थों में उपन्यास नहीं है। और यह भी कि इसका प्रारूप सफरनामें का है। यह उपन्यास 'आख़िरी कलाम' यात्रा–वृतान्त नहीं है बल्कि रिपोर्ताज शैली में लिखा गया है, ऐसा प्रतीत होता है कि छोटे–छोटे कथा प्रसंगों से एक बड़ी कथा की रचना हुई है। उपन्यास के प्रथम पृष्ठ से ही पता चल जाता है कि तत्सत पांडेय को व्याख्यान देने के लिए फ़ैजाबाद जाना है। वहाँ उनके शिष्य सविनय कुलकर्णी ने उन्हें 'सचल ग्रामीण पुस्तकालय' के उद्घाटन के अवसर पर 'किताबें शक पैदा करती हैं' विषय पर व्याख्यान देने के लिए आमन्त्रित किया है। दीर्घाकार उपन्यास का कथानक वस्तुतः तीन चार दिनों में ही घटित होता है यानी तीन, चार, पाँच और छः दिसम्बर और उसके बाद कारसेवक एक्सप्रेस का दिन तदुपरान्त उपन्यास दस वर्ष बाद पुनश्चः पर समाप्त होता है।

तत्सत पांडेय तिरासी साल के लम्बे–दुबले अड़ियल, पीठ से थोड़े झुके हुए अवश्य हों परन्तु बातें उनकी नयी हैं, चिढ़ाने और चौंकाने की गहरी क्षमता उनमें है। फ़ैजाबाद मे आचार्य जी जो व्याख्यान देते हैं, उससे जलती आग में घी पड़ जाता है। कारसेवकों के उमड़ पड़ने से एक युद्ध जैसा उत्तेजनापूर्ण माहौल बन गया है। हिन्दूवादी हिन्दूधर्म की श्रेष्ठता सुनना चाहते हैं। आचार्य जी के कहे शब्द उन्हें चिढ़ाते हैं। कारसेवक तुलसीदास को हिन्दू धर्म का रक्षक मानते हैं, वे हिन्दू समाज और संस्कृति का सब कुछ अच्छा और सुन्दर देखना–सुनना चाहते हैं, जबकि तत्सत पांडेय का व्याख्यान अपने आपमें आलोचना का जीवन्त प्रतीक है। उनका संबोधन अप्रत्याशित किन्तु अर्थपूर्ण है। पुस्तकें मानव जीवन पर अच्छा प्रभाव डालती हैं पर उसके लिए जरूरी है कि पुस्तक भी अच्छी हो। कुछ पुस्तकें ऐसी हैं जो मनुष्य को हिंसा, नफ़रत, दुश्मनी आदि की तरफ ले जाती हैं। पांडेय ऐसी पुस्तकों की भर्त्सना करते हैं।

तत्सत पांडेय के इस व्याख्यान का ज़बर्दस्त विरोध हुआ। जनता ने उनसे प्रश्न किया कि किताबों और जनता के बीच आख़िर कौन है ? तत्सत पांडेय का जवाब था – 'धर्मग्रन्थ और तुलसीदास।' ख़ासतौर से तुलसीदास के नाम पर हिन्दुत्ववादी भड़क उठते हैं, वे तोड़–फोड़ पर उतर आते हैं, पुस्तकालय में आग

लगा देते हैं। यहाँ तक कि आचार्य की कार को भी जला देते हैं। छः दिसम्बर को बाबरी मस्जिद ध्वंस हुई थी, फ़ैजाबाद की यह घटना मानो उसका संक्षिप्त रिहर्सल हो।

तत्सत पांडेय के व्याख्यान से ही यह धमा–चौकड़ी नहीं मची है। यह तो कारसेवकों की प्रतिदिन की तैयारी जान पड़ती है। तत्सत पांडेय की अयोध्या यात्रा के दौरान ही अयोध्या में होने वाली दुर्घटना की झलक मिलती रहती है। जब तब न तो कोई मेला ही शुरू होने वाला है और न ही कोई पर्व और न ही नहान है ऐसे में भारी भीड़ का साजो–सामान के साथ अयोध्या पहुँचना विस्मयकारी स्थिति व्यक्त करता है। "अधेड़ और नौजवान और किशोर। सिर पर या बगल में बँधी गठरी–मोटरी। कांधे पर कम्बल या सोटे के सिरों पर गोलियाकर बँधी हुई रजाइयाँ। मैले–कुचैले कुर्ते या कमीजों के ऊपर बंडी, रूईगर्दा या उधड़े हुए स्वेटर। माथे पर अक्सर चन्दन का टीका और बहुत सारे सिरों पर काली टोपियाँ। बीची–बीच में स्त्रियों के झुंड – पिछौटा खोंसे और सिरों पर गठरियाँ लादे। दोनों ओर तमाशबीन इस जुलूस का नज़ारा लेते हुए।"[32] यह सारी भीड़ अयोध्या प्रस्थान कर रही है। चारों ओर उत्तेजक 'कनफोड़' नारों की चीख़–पुकार सुनायी पड़ती है :

"धर्म संघ की है ललकार
सुन ले दिल्ली की सरकार
रामलला की जै
सिया माई की जै।"[33]

सर्वात्मन द्वारा इन लोगों को 'कारसेवक' कहने पर तत्सत पांडेय 'कारसेवक' शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हैं, "'कारसेवक' वहाँ कारज है। यह शब्द कार्य से बना फिर 'कारज' फिर 'ज' खतम। और तब उसमें 'सेवक' लगा। सिख गुरुओं ने सबसे पहले इसे चलाया। उसमें अपनी आस्था का निर्माण भी था और उसमें लगे हुए आत्मबलिदान भी देना पड़ सकता था। यों यह शब्द पवित्र हुआ। लेकिन हर पवित्र चीज अपवित्र भी तो हो सकती है। 'कारज' किसी बेबसी या ज़िद या अन्ध श्रद्धा के शुभ सम्पादन या समापन को भी कहते हैं। अर्थात् 'कारज' शुभ–अशुभ दोनों होता है। ... ये कारसेवक किस तरह के 'कारज' को जा रहे ?"[34]

रास्तेभर जगह–जगह उन्हें बाबरी–ध्वंस की तैयारी मिलती रहती है। कहीं भारी रेला, कहीं सड़क के पास टायरों के अम्बार, जो बाबरी–मस्जिद के विध्वंस को रोकने के दौरान पुलिस का मूवमेंट पंचर करने के लिए हैं। यह तैयारी तो काफी समय से चल रही थी जिसका कुछ ही देर में हल निकलने वाला था। तत्सत पांडेय के माध्यम से दूधनाथ सिंह ने वैज्ञानिक चेतना, आधुनिक दृष्टि व गहरे नैतिक विवेक से लैस व्यक्ति को दिखाया है। यह चेतना उनके शिष्यों सविनय, सर्वात्मन, बिल्लेश्वर किसी में नहीं दिखाई पड़ती।

धार्मिक स्थल के रूप में अयोध्या की महिमा, राम की देव स्थान पर स्थापना और धार्मिक ग्रन्थ के रूप में रामचरितमानस की मान्यता, राम–चालीसा के प्रकाशन आदि को दूधनाथ सिंह ब्राह्मणवादी षड्यंत्र का परिणाम मानते हैं। जहाँ स्वामी अचेतानन्द सरीखे सफ़ेदपोश हत्यारे मठाधीशों का जमावड़ा हो, वहाँ की जनता को उनसे बचाना आवश्यक है। ब्राह्मणवादी मानसिकता के कारण धर्म में भी स्वार्थ मिल गया है जिससे बड़े और छोटे व्यक्ति में भेदभाव किया जा रहा है। तत्सत पांडेय ब्राह्मणवाद को देश की प्रगति में बाधक मानते हैं। उपन्यास में जगह–जगह ब्राह्मणवादी मानसिकता को देखा जा सकता है और तत्सत पांडेय के प्रगतिशील विचारों को भी। आस्था धार्मिक प्रकरण में फंसे व्यक्ति की मानसिकता को इस प्रकार ध्वस्त करती है कि वह वास्तविकता नहीं देख पाता। वह केवल ब्राह्मणवादी पण्डितों, मठाधीशों और पुजारियों के कहे वाक्यों के पीछे कठपुतली के समान चलता रहता है।

जगह–जगह उपन्यास में हम देखते हैं कि उपभोक्तावाद और बाजारवाद को बढ़ावा दिया गया है। तत्सत पांडेय के जीवित रहते ही उनका विद्या व्यसनी परिवार बाजार में तब्दील हो गया है। इसे भी देखा जा सकता है कि धर्म भी व्यापारी लोगों के मुनाफ़े को किस प्रकार बढ़ाने में सहायता प्रदान करता है ?

उपन्यास में मीडिया और अखबारों की भी चर्चा हुई है। दुनिया–जहान की ख़बरें देने वाला अखबार मनुष्य को गहरे गर्त में ले जाने के लिए तत्पर है। वह तत्सत पांडेय के व्याख्यान के बाद भड़की भीड़ और उसके द्वारा की गई तोड़–फोड़ और आगजनी का गलत चित्र पेश करता है। अख़बार कारसेवकों को और अधिक भड़काने का प्रयास करता है। यदि मीडिया से जुड़े लोग सही स्थिति का आकलन करते तो बाबरी ध्वंस की स्थिति न आने पाती।

मृत्युपर्यंत अकेले ही पाखण्ड व्यवस्था से सदैव लड़ते रहने वाले व्यक्ति की कहानी है 'आख़िरी कलाम।' "यह वह आदमी है जो अध्ययननिष्ठ रहकर दुनिया को बदल डालने के सपने देखता रहा, सिर्फ व्याख्यानों और कुछ प्रतिभाशाली शिष्यों के बल पर। उसके निजी पुस्तकालय में एक अलमारी वह भी है जिसमें केवल उसकी ही प्रकाशित रचनाएँ हैं। देश–विदेश में सराही गई। विवादग्रस्त 'एक सिरफिरे आदमी के सिरफिरे विचार जो बुद्ध, रवीन्द्र और आदिशंकर सबको चुनौती देता है। उन्हीं में से एक उनका अपना सत् है, जिसकी खिल्ली उड़ायी जाती है।"[35]

तत्सत पांडेय का यही व्यक्तित्व उन्हें मृत्यु के महासागर में धकेल देता है। वह अपने घर–परिवार से दूर अयोध्या की गलियों में लुकते–छिपते स्वयं श्मशान घाट पहुँच जाते हैं। फिर भी ऐसे व्यक्ति को श्मशान नसीब नहीं होता। रेल के डिब्बे में बंद, पता नहीं कब तक वह अपनी ही लाश को ढोते रहने को मजबूर हैं – "देखा श्रीमान् तत्सत पांडेय, एक तुम्हीं नहीं हो – सबके सत्य एक दिन नष्ट हो जाते हैं। लेकिन जब तक ब्रह्माण्ड है, पृथ्वी है, मनुष्य जीवित रहेगा, विचार से विचार तक, सत्य से किसी दूसरे सत्य तक ...। वह जीवित रहेगा या बिना सोचे विचारे सिर्फ भूख, महामारी, प्राकृतिक आपदाओं, निजी और सामूहिक यातनाओं के बीच निजी और सामूहिक लूटपाट, नोंच–खसोट करता हुआ, हर नैतिकता–अनैतिकता को लतियाता, वह ढोंगी महात्मा, बीतराग, बगुला–भगत, सार्थक और निरर्थक एक साथ जियेगा।"[36]

उपन्यास के मुस्लिम पात्रों में सबसे महत्वपूर्ण पात्र हैं – मियाँ जमील खाँ। जमील रानी की दर्जी का पुत्र है। उसका मकान घटना स्थल के पीछे की मुस्लिम बस्ती में था जिसे रामजन्मभूमि में मिला लिया गया है। अब वह बेघर–बेदर भटक रहा है। उसके लिए कहीं कोई जगह नहीं है। वह पागल हो जाता है और अयोध्या की गलियों में मारा–मारा फिरता है।

'आख़िरी कलाम' के अन्त में कारसेवकों से ठसाठस भरी गाड़ी आगे बढ़ने से इन्कार कर देती है। आगे–पीछे दोनों ओर ट्रैक टूटने से गाड़ी न आगे जा सकती है न पीछे। क्योंकि उन्मादी कारसेवकों की तोड़–फोड़, मार–काट से बचने के लिए लोगों ने ट्रैक को तोड़ दिया है : "लेकिन गाड़ी में पूरा सन्नाटा पसरा हुआ था। ट्रैक के उस तरफ झींगुरों की झनझन सुनाई पड़ रही थी। दूसरे प्लेटफार्म पर एक विशाल

पेड़ की छाया अँधेरे में हिल रही थी। वे न जाने कब और किधर से उतरे और देश के गाँवों–बस्तियों, ढहबों, जंगलों और नदियों और पूरे वातावरण में बिखरकर गुम हो गये। और फ़िलहाल अब रात थी।"[37]

दूधनाथ सिंह कहते हैं कि विजयी लोगों का कोई भविष्य नहीं होता। इस तरह साफ पता चलता है कि ऐसे लोगों का अपने आप में कोई भविष्य नहीं है जो अपने उन्माद में गाड़ियों को कारसेवक गाड़ियाँ बना देते हैं और मनमानी करते हैं। वे कहीं भी अपने मज़े के लिए गाड़ी रुकवा लेते हैं, खेतों और किसानों को लूट लेते हैं। चाय बेचने वालों को मारते हैं, उनकी केतली को रेल की पटरी पर फेंक देते हैं, यहाँ तक स्टेशन मास्टर को भी पीट देते हैं। इन उन्मादी और धार्मिक कारसेवकों का पागलपन और व्यवहार क्रूरता की हद तक बढ़ा हुआ है।

उपन्यास में कुछ कमजोर अंश है जो बोझिल लगते हैं या फिर थोपे हुए। इसमें तत्सत पांडेय की अयोध्या यात्रा के दौरान सर्वात्मन और बिल्लेश्वर की बातचीत जो राजनीतिक स्थिति, कम्युनिस्ट पार्टी की असफलताओं पर प्रकाश डालती है अप्रासंगिक लगती हैं। इसी तरह कम्युनिस्ट पार्टी कार्यालय में सर्वात्मन और मिसिर जी की बातचीत जो पार्टी की स्थिति और अपने जीवन की विफलता पर आधारित है और जिसका कोई औचित्य नहीं जान पड़ता वह भी अप्रासंगिक है। अयोध्या में उस समय की स्थिति पर बात करने की बजाय वे सिर्फ अपनी–अपनी पार्टियों की सफलता–असफलता पर विचार करते हैं। इसी प्रकार उपन्यास का साक्षात्कार प्रसंग जिसमें तत्सत पांडेय साक्षात्कार के लिए जाते हैं, मूल कथा से भटकाने वाला प्रसंग है। तत्सत पांडेय का स्वप्न शैली में बोलते रहना, बीच–बीच में भूल जाना और पत्नी से उनकी बातचीत रोचक प्रसंग हैं।

संदर्भ

1. दूधनाथ सिंह – लौट आ, ओ धार, पृ. 60
2. वही, पृ. 63
3. पहल पृ. 99
4. वही, पृ. 99
5. मधु सिंह – आठवें दशक की हिन्दी कहानी, पृ. 39
6. वही, पृ. 39
7. दूधनाथ सिंह – लौट आ, ओ धार, पृ. 57
8. दूधनाथ सिंह – निराला : आत्महन्ता आस्था, भूमिका
9. वही, भूमिका
10. वही. भूमिका
11. वही, भूमिका
12. वही, भूमिका
13. वही, पृ. 23
14. वही, पृ. 23
15. वही, पृ. 23
16. वही, पृ. 24
17. दूधनाथ सिंह – नमो अंधकारं, पृ. 70–71
18. वही, पृ. 71
19. वही, पृ. 81
20. वही, पृ. 43
21. डॉ. विश्म्भरनाथ उपाध्याय – समकालीन हिन्दी की भूमिका, पृ. 35
22. दूधनाथ सिंह – माई का शोकगीत, आवरण पृष्ठ
23. दूधनाथ सिंह – प्रेम कथा का अन्त न कोई, आवरण पृष्ठ
24. दूधनाथ सिंह – निष्कासन, पृ. 11
25. वही, पृ. 24
26. वही, पृ. 54
27. वही, पृ. 19

28. दूधनाथ सिंह – निष्कासन, पृ. 28
29. पहल पृ. 93
30. दूधनाथ सिंह – धर्मक्षेत्रे कुरूक्षेत्रे, आवरण पृष्ठ
31. साक्षात्कार – सितम्बर, 2003, पृ. 106
32. दूधनाथ सिंह –आखिरी कलाम, पृ. 104
33. वही, पृ. 109
34. वही, पृ. 107
35. वही, पृ. 24
36. वही, पृ. 24
37. वही, पृ. 429

.....

द्वितीय अध्याय

आख़िरी कलाम में अभिव्यक्त समकालीन संदर्भ

- धर्म बनाम संस्कृति का द्वन्द्व
- जातिवाद, सम्प्रदायवाद और साम्प्रदायिकता
- साम्प्रदायिकता का फासीवादी स्वरूप
- बौद्धिक समाज और समस्याएँ
- उपभोक्तावाद और सामाजिक परिवर्तन

दूधनाथ सिंह का उपन्यास 'आख़िरी कलाम' हिन्दी के वैचारिक संसार में नई पहलकदमी है। यह राम जन्मभूमि बाबरी–मस्जिद जैसे संवेदनशील मुद्दे पर केन्द्रित है। 6 दिसम्बर 1992 की घटनाओं के इर्द–गिर्द केन्द्रित यह औपन्यासिक आख्यान धर्म, सांप्रदायिकता, फासीवाद, जातिवाद, सम्प्रदायवाद, उपभोक्तावाद जैसे जटिल मुद्दों को समझने का एक नया परिप्रेक्ष्य भी है।

बाबरी–मस्जिद ध्वंस के तीन दिनों पूर्व से लेकर तीन दिनों बाद तक के अयोध्या प्रवास के दौरान तत्सत पांडेय की मृत्यु पूर्व का यह 'आख़िरी कलाम' है। यह कलाम भारतीय सत्तातंत्र तथा सामाजिक संरचना के विविध पहलुओं का विवेचन करता है। उपन्यास अपने समय की परिस्थितियों और सामाजिक समस्याओं से रू–ब–रू तो होता ही है साथ–साथ राजनीतिक जमात की गहरी कूटनीतियों का भी पर्दाफाश करता है। छः दिसम्बर 1992 को अध्योध्या में बाबरी–मस्जिद का ढहाया जाना बर्बरता की घिनौनी और शर्मनाक हरकत थी जिसके जरिए लोगों की धार्मिक आस्थाओं और विश्वासों को कुचला गया था। बाबरी मस्जिद के रूप में ईंट और गारे के एक ढाँचे को ही नहीं तोड़ा गया था बल्कि इन्सान के पारस्परिक प्रेम और भाईचारे के रिश्ते को भी तोड़ा गया था। यह ऐसी जघन्य घटना थी जिसके ज़रिए सम्पूर्ण देश में दंगे–फ़साद भड़के, दुकानों को लूटा गया, घरों को आग के हवाले किया गया, अल्पसंख्यकों में दहशत, डर, असुरक्षा, आतंक बरपाया गया। उन्हें पलायन करने पर मजबूर किया गया। धर्म के विकृत सार्वजनिक स्वरूप के कारण ऐसा हुआ। धर्म के व्यक्तिगत आचरण पर किसी ने भी संदेह नहीं किया है परन्तु जब धर्म 'सामूहिक रूप' में उभरता है तो कष्टकारी नीति ही उत्पन्न करता है। धर्म व्यक्ति का व्यक्तिगत मामला है। उसमें राजनीति का प्रवेश वर्जित होना चाहिए। संस्थागत रूप में आते ही वह भयानक रूप धारण कर लेता है। धर्म जब तक व्यक्तिगत दायरे में रहता है वह आध्यात्मिक और समन्वयकारी होता है लेकिन जैसे ही वह किसी समूह की प्रवृत्ति बनता है सांप्रदायिक हो उठता है। सत्ता प्राप्ति की आकांक्षा रखने वालों ने धर्म के इसी सार्वजनिक रूप का इस्तेमाल किया। जन साधारण जिन चीज़ों के साथ भावनात्मक रूप से जुड़ा होता है, ये लोग उन्हीं चीज़ों का सहारा लेकर जन–समुदाय की भावना को उभारते हैं और अपना उल्लू सीधा करते हैं। आज तुलसी के

जननायक को मोहरा बनाकर सत्ता की लड़ाई लड़ी जा रही है। राजनीतिक लोग धर्म की बैसाखी लेकर चलते हैं और आम जनता में धर्मोन्माद, युद्धोन्माद, सांप्रदायिक वैमनस्य फैलाकर सत्ता हासिल करने की कोशिश करते हैं। धार्मिक कट्टरता को बढ़ावा देने के लिए ये शक्तियाँ, राजनीति, इतिहास, परंपरा और धर्म की भ्रान्त और गलत धारणाएं आम जनता में प्रचारित करती हैं।

व्यापक अर्थों में देखे तो हिन्दू और इस्लाम धर्मावलंबी लंबे समय से इस देश में साथ–साथ रह रहे हैं। ये दोनों धर्मावलंबी सद्भाव से रहना चाहते हैं लेकिन सत्ता प्राप्ति की चाह रखने वालों ने इनके हितों को अपने राजनीतिक हितों के समकक्ष रखकर इनको एक–दूसरे के प्रति भड़काया ही नहीं बल्कि कट्टर शत्रु के रूप में उभारा। हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता और उससे उपजा जातिवादी समीकरण हिन्दू शक्तियों ने खड़ा किया है। इसी जातीय श्रेष्ठता का दम भरता यह हिन्दूवादी समाज 'फासीवाद' के गहरे गर्त में तब्दील होता जा रहा है। जातीय श्रेष्ठता की राजनीति ही फासीवाद है। फासीवाद आस्था को प्रमुखता देता है और तर्क को नकारता है। अलगाववाद व वैमनस्य फासीवाद के बड़े तत्व हैं, जिनको झूठी बातों व आंकड़ों से फैलाया जा रहा है। फासीवाद समाज व्यवस्था को विकृत करने की तस्वीर है। इसमें एक तरह का लड़ाकूपन पाया जाता है जो मरने–मारने पर उतारू होता है।

फासीवादियों ने ख़ौफनाक और डरावनी स्थिति पैदा कर दी है। बाबरी मस्जिद का ढहाया जाना और उसके बाद भड़के दंगे इस फासीवादी स्वरूप का जीता जागता उदाहरण हैं। इन फासीवादी शक्तियों के सामने लक्ष्य था – हिन्दू मानस को धार्मिक प्रतीकों के सहारे अपने अनुकूल ढालना एवं बहुसँख्या में फैले हिन्दू समाज के दुरुपयोग द्वारा सत्ता प्राप्त करना, इसके लिए उन्होंने राम के मिथक, हिन्दुत्व के मॉडल को चुना। अब तक सांप्रदायिक तत्व छिपकर वार करते थे परन्तु इन स्थितियों के कारण सांप्रदायिकता का खौफनाक चेहरा खुलकर सामने आया। 'आख़िरी कलाम' का मूल स्वर भी साम्प्रदायिकता के विद्वेष में नष्ट हो रही मानवीय संवेदनाओं की चिन्ता से जुड़ा हुआ है। बाबरी–मस्जिद विध्वंस से भारतीय समाज को अनेक मानवीय समस्याओं को झेलना पड़ा। दोनों सम्प्रदायों के मध्य पनपने वाला अविश्वास, दोनों के बीच हुए साम्प्रदायिक दंगे, निरपराध मनुष्यों का रक्तपात, संबंधों के टूटने की पीड़ा, अपनी भूमि से उजड़ने और उखड़ने की वेदना, विस्थापितों के

बसने की समस्याएँ 'आख़िरी कलाम' में मौजूद है।

बाबरी–मस्जिद से ऐसी तात्कालिक स्थितियाँ उत्पन्न की जा रही थीं कि आम जनमानस उनमें लिप्त होता जा रहा था। आम जन की विवेक शक्ति को रौंदा जा रहा था। उनमें कुंठा, वैमनस्य और हिंसा का साम्राज्य स्थापित किया जा रहा था। इस सबमें महत्वपूर्ण भूमिका निभाई संघ परिवार की रथ यात्रा ने, समाचार पत्रों की ग़लत रिर्पोटिंग ने और इन सबके विपरीत बौद्धिक वर्ग की उदासीनता ने। रथ यात्रा से जुड़े कार्यकत्ताओं को 'रामभक्त' और 'कारसेवक' का दर्जा देकर महिमा मंडित किया गया। रथयात्रा के दौरान और बाद में उसके मार्ग में पड़ने वाले शहरों और कस्बों में ज़बर्दस्त दंगे भड़के जिसमें सैकड़ों लोग मारे गये, हज़ारों घर, दुकानें या तो जला दी गईं या तबाह कर दी गईं। इन दंगों का शिकार सब जगह मुसलमानों को होना पड़ा। उस समय समाचार पत्रो ने भी पक्षपात किया और इन तथ्यों को नज़रअंदाज करके रथयात्रा की वाहवाही की। रथयात्रा के रास्ते में पड़ने वाले शहर, गाँव और कस्बों में लोगों का सैलाब स्वागत के लिए उमड़ पड़ा। और हर कहीं इस अयोध्या आन्दोलन को ज़बर्दस्त जन समर्थन मिलता चला गया। अखबारों की ऐसी रिपोर्टिंग ने समाज के दूसरे हिस्से में व्याप्त भय और आतंक को बिल्कुल ही नोटिस नहीं किया। समाचार पत्रों ने एक तरह से संघ परिवार का साथ ही दिया। उन्होंने अपने आपको रथ–यात्रा से जोड़ लिया जोकि रिपोर्टिंग न होकर एक विशेष उद्देश्य से आयोजित प्रचार अभियान ही था। दूसरी तरफ जगह–जगह एक निहायत अलग माहौल बन रहा था। रथयात्रा से लोग केवल 'मंत्रमुग्ध' और 'चमत्कृत' ही नहीं हो रहे थे बल्कि भय, असुरक्षा, आतंक, विध्वंस और दंगे की गिरफ्त में भी आ रहे थे। यात्रा के रास्ते के आस–पास के इलाक़ों के मुसलमान अपने घरों में बंद थे या पलायन कर रहे थे, क्या यह रिपोर्टिंग का क्षेत्र नहीं था ? क्या समाचार का यह हिस्सा 'ध्यान देने योग्य नहीं था ?' वास्तव में समाचार–पत्रों ने एक हिस्से पर अपना सारा ध्यान केन्द्रित कर दिया और इसके लिए दूसरे हिस्से को पूरी तरह उपेक्षित छोड़ दिया। यह है जन–समर्थन पाने का नायाब तरीका जिसे आम जन नहीं समझ सकता। वहीं दूसरी तरफ 'राम' के सत्य रूप को और अधिक उजागर किया गया टी.वी. पर रामानन्द सागर के 'रामायण' सीरियल की शुरुआत से। जहाँ एक तरफ समाचार–पत्रों के जरिए पढ़े–लिखे वर्ग को बेवक़ूफ बनाने की साज़िश रची जा रही थी वहीं दूसरी

तरफ अनपढ़ जनता के सामने 'रामायण' का विकल्प रखा गया। 'राम' हिन्दू अस्मिता के महान नायक के रूप में उभरते चले गए। हिन्दुत्व का रथ समाचार–पत्रों, गली–मुहल्लों में 'रामायण' के ज़रिए होते हुए धीरे–धीरे अयोध्या में पहुँचता है। यह एक लम्बी प्रक्रिया थी जो 6 दिसम्बर 1992 के दिन अपने चर्मोत्कर्ष पर थी। हिन्दुत्ववादियों की यह सत्ता प्राप्ति की नीति निर्बल, असहाय जनता को अपनी कूटचालों के भँवर जाल में फँसाए हुए है। जनता को उकसाया जा रहा है। उनकी विचारशक्ति के प्रसार पर ये हिन्दुत्ववादी रोक लगाए हुए हैं। ये शक्तियाँ निर्बल कमजोर जनता के चेतना युक्त मस्तिष्क की सफाई करती हुई, उनमें अपने सिद्धान्तों, हितों को फैलाती जा रही हैं। 'कसम राम की खाते हैं, हम मंदिर वहीं बनाएंगे' और 'एक धक्का और मारो मस्जिद को तोड़ डालो' जैसे उत्तेजक नारों को गली–मुहल्लों में ज़ोर–शोर से प्रचारित किया जा रहा था। इस तरह की उत्तेजक स्थिति में आमजन फंसता चला गया। पूरा अयोध्या शहर हिन्दू अस्मिता का पर्याय बन गया। इस सारी घिनौनी स्थिति की परिणति होती है 6 दिसम्बर 1992 को जब उत्तेजक भीड़ द्वारा बाबरी मस्जिद का विध्वंस कर दिया जाता है और प्रशासन तथा समाज का बौद्धिक वर्ग देखता रह जाता है। बाबरी मस्जिद के विध्वंस का भयावह दिन और उसके बाद भड़के भयावह दंगे बौद्धिक वर्ग पर उंगली उठाते हैं। समय–समय पर सांप्रदायिक शक्तियों ने समाज में जो क्रूरतम स्थिति उत्पन्न की, उस समय प्रशासन क्या कर रहा था ? देश–समाज में जो चल रहा था उसे सदैव अनदेखा किया गया। बौद्धिक समाज ने अपनी सफ़ाई के लिए केवल झूठे आश्वासनों की झड़ी लगाई। बाबरी मस्जिद लगातार पाँच घंटे तक गिराई जाती रही परन्तु सरकार की उंगली तक नहीं हिली। उसके बाद देशभर में दंगे हुए, जिसमें पुलिस और प्रशासन का खुला पक्षपात सामने आया। इन दोनों ने हिन्दुओं की पैरवी की और बेजुल्मों के साथ पक्षपात पूर्ण नीति अपनायी। अयोध्या में कर्फ्यू लगा सिर्फ़ मुसलमानों के लिए हिन्दुओं के लिए नहीं न्यायिक व्यवस्था इन सारे मामलों में मौन साधे रही। 'आख़िरी कलाम' इन सारी स्थितियों पर दृष्टिपात करता है।

दूधनाथ सिंह धर्म के इस संस्थागत रूप से खिन्न और नाराज़ हैं। वे सर्वाधिक मुखर हैं हिन्दू धर्म की मनुष्य विरोधी ब्राह्मणवादी संरचना को बेपर्दा करने में और प्रशासन तथा धर्मनिरपेक्ष शक्तियों के उस पोले आधार को उजागर करने में

जो उसकी विफलता के लिए जिम्मेदार है। उपन्यास में कारसेवकों की आक्रामकता व बाबरी–मस्जिद के विध्वंस से उपन्यासकार खासा नाराज प्रतीत हो रहा है। इसलिए वह उन सभी लोगों को कटघरे में खड़ा करता है जो इस कुकृत्य के लिए ज़िम्मेदार हैं या फिर मौन सहमति रखते हैं। उपन्यास का केन्द्रीय पात्र 'तत्सत पांडेय' उपन्यासकार का ही प्रतिरूप लगता है जो धर्म की नयी व्याख्या करता है। प्रशासन से नाराज़, बौद्धिक समाज पर प्रश्नचिह्न लगाता, पुलिस जवानों को झिड़कता अपनी उपस्थिति दर्ज कराता है।

'आख़िरी कलाम' महज संरचनात्मक तोड़–फोड़ नहीं करता बल्कि एक ऐसी वैचारिक तोड़–फोड़ है, जहाँ बहुत सी स्वीकृत मान्यताएँ और निर्मितियाँ ध्वस्त हो जाती हैं। धर्म को ख़ारिज करते हुए 'रामकथा' के सांप्रदायिकता विरोधी इस्तेमाल के तर्क दिए जा रहे हैं।

सही मायनों में देखा जाए तो औपन्यासिक संरचना में 'आख़िरी कलाम' एक ऐसा वैचारिक अस्त्र है जो अपनी पूरी आक्रमकता के साथ उपस्थित है। 'आख़िरी कलाम' जहाँ धर्मोन्मादी फासीवाद की निर्माण प्रक्रिया से साक्षात् कराता है वहीं इसके मूल उत्स पर प्रहार का भी आह्वान् करता है। मनुष्य के मस्तिष्क को झकझोरता बाबरी–मस्जिद के पीछे छिपे तर्कों को उद्घाटित करता है।

धर्म और संस्कृति का द्वन्द्व

व्यापक अर्थों में धर्म लोगों को समन्वित रूप में रहना सिखाता है। पहले धर्म का मुख्य काम ही लोगों को जोड़ना था। धर्म के सानिध्य में व्यक्ति अपने को सुरक्षित महसूस करता था और धर्म सुरक्षा कवच की तरह व्यक्ति के साथ बना रहता था। समाज में धर्म और धार्मिक लोगों को सम्मानजनक दर्जा दिया जाता था। परन्तु समय गुजरने के साथ–साथ धर्म का विकृत रूप धीरे–धीरे सामने आने लगा। एक समय ऐसा आया जब धर्म को अफ़ीम की संज्ञा दी गई। फासीवादी ताकतों ने धर्म को अपना हथियार बनाया। धर्म का सहारा लेकर सत्ता पर क़ाबिज होने और अपने हितों को मज़बूत करने की जी तोड़ कोशिश होने लगी। इन शक्तियों ने सत्ता प्राप्ति के लिए धर्म का इस्तेमाल सीढ़ी की तरह किया।

'आख़िरी कलाम' में दूधनाथ सिंह ने धर्म के संस्थागत रूप में निहित कुरूपताओं को चित्रित किया है। दूधनाथ सिंह धर्म को ही 'अफ़वाह' और 'अंधत्व' प्रदान करने वाला घोषित करते हैं। इनकी मान्यता है कि ब्राह्मणवादी समाज ही देश की प्रगति में बाधक है, ब्राह्मणवाद को वे एक तरह का उपनिवेशवाद मानते हैं।

'आख़िरी कलाम' में केन्द्रीय पात्र 'तत्सत पांडेय' के जरिए रामजन्म भूमि नर संहार के पीछे छिपी ब्राह्ममणवादी मानसिकता और धर्म के विकृत और घिनौने रूप को उजागर किया गया है। वे धर्म के व्यक्तिगत रूप से अवगत हैं और इस रूप का विरोध नहीं करते। क्योंकि समाज में इस रूप से कोई कष्टकारी स्थिति उत्पन्न नहीं होती। इसलिए वे परिवार के धार्मिक कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करते। घर के वातावरण में घोर धार्मिक सदस्यों के बीच वे अनीश्वरवादी व्यक्ति के रूप में उपस्थित हैं।

मार्क्सवादी विचारों से अनुप्राणित आचार्य जी स्वभाव से धर्म विमुख हैं। ईश्वर को असत् करार देते हुए वे धर्म को नकारते हैं। आचार्य जी आजकल 'भारतीय धर्मशास्त्र और दर्शन' के अध्येता हैं। उनसे साक्षात्कार में जब भारतीय धर्म एवं दर्शन संबंधी प्रश्न किया गया तो वे धर्म के असत् को उजागर करते हैं, "अगर सारी क्षणभंगुर वस्तुओं में ईश्वर का निवास है तो क्या वह भी क्षणभंगुर नहीं हुआ ? वह सनातन कैसे हो गया ? इसीलिए धर्मशास्त्र और भारतीय दार्शनिक प्रणालियाँ अपने सारतत्व में एक असत् पर आधारित हैं ... इसीलिए दुनिया के सारे धर्मग्रन्थ अन्धों के लिए हैं। उनका अनुगमन करो। प्रश्न मत करो।"[1] सभी धर्मों की असत्यता के साथ आचार्य जी बुद्ध के मत को सार्थक बताते हैं – "बुद्ध तो अपने प्रथम उपदेश में ही यह बात बल देकर कहते हैं कि मनुष्य आत्मा और ईश्वर जैसे भ्रमों से मुक्त हो क्योंकि ईश्वर एक अफवाह हैं।"[2]

'तत्सत पांडेय' बौद्धिक, प्रगतिशील होने के नाते आम जन मानस को जगाने का आह्वान करते हैं। धर्म का राजनीतिकरण करके नैतिकता और कल्याण का जो ढोंग रचा जा रहा है वे उसे उघाड़ने का प्रयास करते हैं। राजनीतिक जमात सत्ता हासिल करने के लिए धर्म के संवदेनशील मुद्दे को उठाए हुए है। इसके माध्यम से जनता को सरलता से उकसाकर अपने हक़ में करने की मुहिम चलाते हैं। इसी

भयानक स्थिति से 'तत्सत पांडेय' व्यक्ति को अवगत कराना चाहते हैं। वे व्यक्ति की मानसिक स्थिति को बदलना चाहते हैं, तभी कहा गया है "हमें उनसे डर नहीं है जो अपराधी और हत्यारे हैं, उन हत्यारों से डर है जो राजनीतिक प्रेमी हैं, जो धर्म और संस्कृति का नाम लेते हैं।"[3] अपने स्वार्थ के लिए नेता लोग कमज़ोर, निर्बल इस आम जनता को धर्म के गहरे गर्त तले दबोचकर लाचार बना रहे हैं। वे मानसिक तौर पर व्यक्ति–मन पर कब्जा किए हुए हैं। 'तत्सत पांडेय' सबकी पड़ताल करते, सबका पर्दाफाश करते, बुद्धिजीवी के नजरिये से सही राह दिखाते हुए पात्र की भूमिका अदा करते हैं। "... मैं जब यहाँ से शुरू करता हूँ कि धर्म ही एक षड्यंत्र है तो जाहिर है धर्मनिरपेक्षता का क्या मतलब। और सच है कि धर्म एक वृहद् अनजाना षड्यंत्र है मानवता के खिलाफ। धर्म एक ठगी हैं धर्म डराता है अंधत्व प्रदान करता है।"[4]

आचार्य जी धर्म के इस विखण्डित रूप का विरोध करते हुए धर्म को ही षडयंत्र घोषित करते हैं। धर्म मनुष्य की सांस्कारिक मनोवैज्ञानिक कमजोरी को भुनाता है और व्यक्ति को अंधा कर उसकी लाठी के रूप में सदैव विद्यमान रहता है। इनकी मान्यता है कि आज की नैतिकता का प्रश्न धर्म के बिना भी हल किया जा सकता है। आचार्य जी प्रश्न करते हैं "कहाँ है तुम्हारे वर्ग–मुक्त मानस की जनता ? क्या धर्म के सवाल पर इस देश के सारे लोग ब्राह्मण हो जाते हैं ? तब हो चुका। यह मंदिर–मस्जिद का सवाल नहीं है . यह मनुष्य होने न होने का सवाल है।"[5] दूधनाथ सिंह भी धर्म के द्वारा इस सत्ता प्राप्ति के रास्ते से खासे परेशान हैं। लेखक होने के नाते उन्होंने जोरदार प्रयास किया है कि जनता इस सच को समझे कि मंदिर–मस्जिद का इस्तेमाल राजनीतिक सत्ताधारी खुलेआम अपने हित के लिए कर रहे हैं। राजनैतिक सत्ता प्राप्त करने के लिए धर्म के उन्मादी संविधान की मर्यादाओं को पैरों तले रौंद रहे हैं। धर्म की निष्ठा को संविधान को तोड़–मरोड़ रहे हैं, इतिहास की ग़लत व्याख्याएं कर रहे हैं।

इन सब व्याख्याओं, स्थितियों से लड़ने के लिए आचार्य जी शिक्षा को हथियार बनाते हैं, इसलिए मनुष्य की शिक्षा पर ख़ासा जोर देते हैं। उनका पौत्र रविकान्त और पालित लड़का बिल्लेश्वर अपनी पढ़ाई बीच में ही छोड़ देते हैं। रविकान्त पूर्ण रूप से धार्मिक आस्था से युक्त हो जाता है। वे चाहते हैं आने वाली पीढ़ी शिक्षित हो, धर्मान्ध न बने। देश का भविष्य आज के नौजवानों के हाथ में है।

वे ही धार्मिक बन जायेंगे तो देश तरक़्क़ी कैसे करेगा। इसलिए तत्सत चाहते हैं वह दो चुटियों वाली लड़की स्कूल से कभी न भागे। वे उससे कहते हैं स्कूल से मत भागना, तत्सत पहरा देता है। शिक्षित व्यक्ति ही मानसिक और शारीरिक तौर पर अन्ध–आस्थाओं और बिगड़ी सामाजिक मान्यताओं से लड़ने की ताकत रखता है।

इन सबके विपरीत शिक्षित समाज, बौद्धिक वर्ग में भी धर्म अपनी पैठ बनाता जा रहा है। एक तरफ व्यक्ति ज्ञान–विज्ञान की बात करते हुए भूत–भविष्य में विश्वास नहीं करते। वे कहते हैं, ईश्वर जो दिखाई नहीं देता, जिसका वज़ूद होने का कोई सबूत नहीं मिलता, वही धार्मिक व्यक्ति से कहीं ज्यादा धार्मिक बनते हैं बल्कि "जो खगोलशास्त्री हैं, अणु वैज्ञानिक हैं, अविष्कर्ता हैं, खोजी हैं, वही सुबह दो घंटे चंडी पाठ करेगा और बाहर निकलेगा तो त्रिपुंड से सजधजकर, सत् को जानकर भी वह असत् से अपनी सुरक्षा की गारंटी चाहता है। क्योंकि कौन जाने, विज्ञान के सारे नियम एक दिन बेकार साबित हो जाएँ। एक दिन सारा विज्ञान सिर्फ एक भ्रम साबित हो। इसलिए ज्ञान–विज्ञान को खोजो, तर्क का उपयोग करो, लेकिन निजी सुरक्षा और शान्ति के लिए सुबह की पूजा और त्रिपुंड जरूरी है।"[6] इसी प्रकार मार्क्सवादी मिसिर जी भी शुभ–अशुभ के बारे में सोचते हुए पाँच भगवा पट्टे खरीदते हैं। क्योंकि पाँच का अंग शुभ है। "इसीलिए जो जितना बड़ा ज्ञानी है, वह उतना ही बड़ा ढोंगी और लम्पट और आत्मवंचक। इस भैतिक संसार का सामना करने की शक्ति उसमें नहीं है। और अगर है भी तो क्यों सामना करे ? अगर धर्म और ईश्वर और अन्धत्व के शार्ट–कट से बचाव हो जाए तो लफड़े में पड़ने की क्या जरूरत ?"[7]

'आख़िरी कलाम' साधु–महात्माओं के दुष्चरित और आचरण को भी खुलकर सामने लाता है। इसी सच को सामने लाने के लिए शिवगोपाल पंडित और अचेतानन्द की कथाएँ उपन्यास में रखी गई हैं। आजकल धर्म में भी अंधेर मचा हुआ है जो लुच्चे–लफंगे, चोरी–चकारी करने में सिद्ध हस्त हों वे साधु बन जाते हैं और शिवगोपाल पंडित की तरह जगह घेर–घेरकर मंदिर और रहने के लिए अच्छी खासी महंती बना लेते हैं। और एक वह दिन आता है जब उसके स्वयं के शिष्य इसी ठाठ–बाट की महंती के लिए उसकी हत्या कर देते हैं। जिस प्रकार आचार्य अचेतानन्द ने अपने गुरू की हत्या कर सारे मठ पर क़ब्जा जमा लिया। और एक विश्वास न करने लायक कथा गढ़ दी है। इसी वजह से मंदिर, मठ आदि कुकुरमुत्तों

की तरह फैलते जा रहे हैं जिनका अपना कोई सिद्धान्त, विचार व सत्य नहीं है। बल्कि "पहले चारों धाम हुआ करते थे। अब खाने–कमाने के लिए कोटि–कोटि जैसे कोटि–कोटि नरक। धार्मिक मंडियाँ। मूर्खों के अड्डे। पगे–पगे। कोई भी सिरफिरा एक धाम स्थापित कर देगा। पहले एक ही परमहंस थे– रामकृष्ण। अब चारों ओर। अब अनेकानेक शंकराचार्य।"[8]

पार्टी कार्यालय की असुविधा को देखकर मिसिर जी आचार्य जी को स्वामी अचेतानन्द के आश्रम में ले जाते हैं। अचेतानन्द के मठ में वे सारे साधन उपलब्ध हैं जो 'भौतिक परमहंसी' सामर्थ्य के अनुकूल है। स्वामी अचेतानन्द का आश्रम तथाकथित परमहंसों के मठों की सड़ाँधता का जीता जागता नमूना है। अचेतानन्द ने अपने गुरू की हत्या कर एक रहस्यमयी अलोपकथा गढ़ दी और स्वयं मठाधीश बन बैठा। यह है एक आम विद्यार्थी विद्यानंद से 'स्वामी' और 'मठाधीश' सरीखे अचेतानन्द बनने की दिव्य कथा जो अयोध्या की धर्म संस्कृति का ही रहस्योद्घाटन नहीं करती बल्कि हमारी न्यायव्यवस्था पर भी तीखा प्रहार करती है। 'सरेआम लक्ष्मण घाट पर। हजारों श्रद्धालुओं के सामने' वध करने वाले को धर्म परायण जनता 'परमहंस' और 'स्वामी' मानने से 'गुरेज' नहीं करती बल्कि उसकी पूजा अर्चना करती है।

आचार्य जी अयोध्या को 'धर्म की मंडी' कहते हैं, जहाँ केवल आस्था के अंधत्व को देखा जा सकता है। अयोध्या को नया वेटिकन बनाने की हिन्दुत्ववादियों की योजना है परन्तु अयोध्या का सच अत्यंत भयावह है। आचार्य जी दृष्टि डालते हैं – "कुछ भी तो नहीं यहाँ सिर्फ हाय तौबा धर्म का मखौल है – बस। हर एक गर्भ–गृह में सईसाँझ जो एक मुस्टंडा जजुमानों को ताकता, दिया बारे बैठा है ... उसकी एक पूरी वंशावली है रची हुई। उसमें जघन्य हत्याओं के सिलसिले हैं। चीत्कार करती श्रद्धालु भक्तिनें हैं ... कमाई के ज़रिए हैं। माफ़ी है, वन है, चढ़ावा है, मूर्ति के नीचे छिन–झपटकर लाया और दफ़नाया गया स्वर्ण और रौप्य भंडार है। तो यह है तुम्हारे 'वेटिकन' की कल्पना की सँकरी, सँडास भरी गलियाँ, जिन पर तुम फिदा हो।"[9] आचार्य जी प्रश्न करते हैं कि आख़िर इस 'वेटिकन' का 'पोप' कौन होगा ? क्योंकि यहाँ अनेकानेक 'परमहंस' हैं। 'आचार्य जी इसे सत्ता विमर्श से जोड़ते हुए कहते हैं, "यह सत्ता का मात्र एक घिनौना खेल है, गेरूए रंग में लिपटा हुआ। यह

किसी भी कौम का सरीहन अपमान हैं यह आधुनिक बर्बरता का नंगा नाच है।"[10] एक किवदंती है कि राम ने सरयू में जल समाधि ली। अथर्ववेद में लिखा है कि आत्मघाती की आत्मा सदा के लिए प्रेतयोनी में भटकती रहती है, फिर भगवान राम को आत्मघात के बाद स्वर्ग कैसे मिला ? आचार्य जी कहते हैं कि किवदंतियों में एक फासिस्ट तत्व होता है लोग अपने तरीके से गढ़ लेते हैं जिस पर तर्क करना बेकार है। "इसमें भी ब्राह्मणों ने विधान रच रखा है। अगर तुम बड़े आदमी हो, पंच पांडव हो अगर तुम भगवान राम हो तो तुम्हें आत्मघात के बाद स्वर्ग–नरक कुछ तो मिलेगा ही। तुम प्रेतात्माओं के रूप में चीत्कार करने के लिए नहीं छोड़ दिए जाओगे। जो दीन–हीन, बेसहारा ऊबकर मर जाते हैं, जो अपनी इज़्ज़त–आबरू के लिए कुँआ–इनार झाँकती हैं, फाँसी के फंदे में लटक जाती हैं वे सब प्रेतयोनी में जाने के लिए बने हैं। ब्राह्मणों ने इसमें भी वर्ग विभाजन कर रखा है।"[11]

धार्मिक लोगों की आँखों पर पंडे, पुजारियों, लहंकट बाबाओं, अचेतानन्द सरीखे परमहंसों ने धर्म की पट्टी बांध रखी है। धर्म के नाम पर भाई जी लोग कारसेवा के दिन चिल्ला–चिल्लाकर लोगों को 'मस्जिद तोड़ने के लिए' उत्साहित कर रहे हैं "धर्म – धर्म के बिना आदमी की कल्पना असम्भव है, धर्म से ही मनुष्य है, नहीं तो वह कीड़ा–मकोड़ा है। धर्मों में हमारा धर्म – हिन्दू धर्म सबसे प्राचीन है। इस देश में वही, सिर्फ वही चलेगा। हमारे धर्म ने ही हमें इतनी विराट शक्ति दी, जिसे आप देख रहे हैं।"[12]

धर्म और राजनीति आज एक दूसरे के पर्याय बन चुके हैं। धर्म में जब राजनीति घुसती है तो सामान्य जन अपनी आस्था खोने लगता है और धर्म अपनी स्वायत्तता और गरिमा खोकर राजनीति का ग़ुलाम बन जाता है। इस तरह देखें तो धर्म उन सभी तत्वों की मदद कर रहा है जो इस कार्य का नेतृत्व कर रहे हैं। मस्तराम कपूर ने सही लिखा है कि "धर्म सांप्रदायिक तब बनता है जब धर्म सत्ता के रूप में काम करने लगता है। और इस प्रक्रिया में दूसरे धर्मों के साथ उसकी होड़ चलती है। जब उसमें कट्टरता और आक्रामकता की प्रवृत्तियाँ पैदा होती हैं तो धर्म अपना सौम्य रूप खो देता है और सामाजिक विकास में बाधक बनने लगता है।"[13] और यही नीति कष्टकारी होती है।

इसलिए आचार्य जी की मान्यता है कि यह कट्टर धर्म ही न रहे, जो इन्सान को इन्सान न मानकर केवल हिन्दू–मुसलमान मानता है। वे कहते हैं "गाँधी जी ने बड़ा काम करना चाहा, लेकिन वह धर्मों को मिलाने से थोड़े होगा। धर्मों को धीरे–धीरे खत्म करने से होगा।"[14]

धर्म के विकृत रूप, हिन्दुत्ववादी ताक़तों का धर्म का दुरुपयोग और तत्सत पांडेय के 'धर्म' संबंधी विचार उपन्यास को आज के समय से जोड़ते हैं। धर्म जहाँ मनुष्य का 'निजी मामला' था वही आज अपने विकृत रूप में 'सामाजिक मामला' बनता जा रहा है। ब्राह्मणवादी मानसिकता की उपज कि वही सर्वश्रेष्ठ है। और भारतीय संरचना के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक हितों पर उन्हीं का वर्चस्व है, गलत है। उपन्यास के केन्द्रीय पात्र के धर्म संबंधी प्रगतिशील विचारों से बहुत से लोग असहमत हो सकते हैं परन्तु उनके विचार सामाजिक व्यवस्थाओं पर प्रश्न चिह्न लगाते हुए आम इंसान को सोचने पर विवश करते हैं।

धार्मिक कट्टरता के बढ़ने से आदमी किस तरह वहशी और अमानवीय हो उठता है। राम जन्मभूमि मामले में देखा जा सकता है।'आख़िरी कलाम'में धर्म अपनी मानवीय ऊष्मा को खोकर किस तरह कट्टरता की आग में सम्पूर्ण समाज को जला रहा है उसका सोउद्देश्य चित्रण है। तत्सत पांडेय का उद्देश्य समाज को धार्मिक कट्टरता के विरोध में जाग्रत करना है।

जातिवाद, संप्रदायवाद और सांप्रदायिकता

भारतीय समाज को विघटन के कगार तक ले जाने का श्रेय जातीयता तथा विषमता को है। इसके कारण सामाजिक स्थिति खोखली होती जा रही है। आज के समय में इसका प्रभाव घातक है और इसके कारण वीभत्स परिणाम देखने को मिल रहे हैं। आज आंतरिक, पारस्परिक वैमनस्य एवं सामाजिक अशांति के पीछे जातीयता का बहुत बड़ा हाथ है। राजनीतिक वर्ग के लोगों ने सत्ता प्राप्ति के लिए जातीयता का सहारा लिया और इसके लिए उन्होंने समाज के दो बड़े धार्मिक समुदायों हिन्दू और मुसलमान में फूट डाली। दोनों धर्मावलंबियों को अपनी जाति के प्रति संवेदनशील बनाया, दोनों वर्गों को अपने अस्तित्व और अस्मिता की चिन्ता सताने लगी; और

आज यह स्थिति है कि दोनों धर्मावलंबियों में गहरा अलगाव है। दोनों ही कट्टर शत्रु की भूमिका में हैं। अब वह समय आ गया है कि भारतीयता हमारी पहचान नहीं रही, बल्कि हिन्दू, मुसलमान, सिख या बौद्ध होना हमारी पहचान बन गई। राजनीति लोगों की छल नीति ने दोनों वर्गों को अलग–अलग खड़ा कर दिया। आज भारतीय समाज को जातीयता के घुन ने खोखला कर डाला है। राम जन्मभूमि बाबरी मस्जिद विध्वंस भी इसी जातिवादी स्थिति का परिणाम है। हिन्दू और इस्लाम दोनों धर्मों के अनुयायियों के सामाजिक आचरण राष्ट्रीय चरित्र एव संगठन को स्पष्ट ही जातिवाद ने गहरा प्रभावित किया है। 'आख़िरी कलाम' इन्हीं सब विनष्टकारी स्थितियों पर दृष्टिपात करता हुआ जातिवाद के विरोध में खड़ा हुआ है। अभी तक समझा जाता था कि निम्न और मध्यम वर्ग ही 'जातिवादी' बनते रहे हैं वही बौद्धिक वर्ग, समाज का उच्च तबका भी इससे अछूता नहीं है। बल्कि समाज में इस वर्ग की घृणित और घिनौनी तस्वीर जातिवादी रूप में ही ज्यादा उभरी है।

'आख़िरी कलाम' बौद्धिक समाज के इस जातिवादी चेहरे को बेपर्दा करता है। उपन्यास में विश्वविद्यालय का परिवेश भाई–भतीजेवाद ज़ातिवाद का अड्डा है। पूरब के इस 'ऑक्सफोर्ड' की सडाँधता का बड़ा ही विस्तार से वर्णन किया गया है जो 'अनुभव की प्रामाणिकता' से ओतप्रोत है। 'तत्सत पांडेय' के प्रोफ़ेसर पद पर नियुक्ति का प्रसंग विश्वविद्यालय के तिकड़म को तार–तार करता है। इस चयन प्रक्रिया में किस प्रकार योग्यता के स्थान पर जात–पात और राजनीति का दाँव–पेंच चलता है, उसे देखना और भी दिलचस्प है। उप कुलपति महोदय आचार्य जी की बौद्धिक प्रतिबद्धता को 'प्रगतिशील गुंडई' कहते हैं। साक्षात्कार के बाद इसे लेकर अनेक व्याख्याएँ और किवदंतियाँ विश्वविद्यालय में व्याप्त हैं, और उनकी नियुक्ति को कैसे रोका जाए, यह षड्यंत्र जारी है। कुलपति का विरोध उनके मार्क्सवादी होने से है तो कायस्थ का विरोध इसलिए है कि वे ब्राह्मण हैं और ब्राह्मण का विरोध इसलिए है कि मार्क्सवादी ब्राह्मण नहीं हो सकता।

कार्य परिषद् की बैठक के पूर्व की स्थिति एवं विश्वविद्यालय के बौद्धिक वर्ग में आचार्य जी के संदर्भ में चलने वाले 'ज्योतिर्मय संलाप' इस पूरब के 'ऑक्सफोर्ड' की जातिवादी सच्चाई की नग्नता को प्रदर्शित करता है :

"'वो ? द्वैपायन है। जो कम्युनिस्ट है। वो बांभन कहाँ ?

.....

'किसी ने उनके दरबार में एक दिन पूछा, सर्वश्रेष्ठ कौन है ?' यह कुछ नियुक्तियों का मामला था।

.....

'द ग्रेट ने कहा अपना आदमी सर्वश्रेष्ठ होता है।'
'चाहे वह गधा भी हो ?' पूछने वाले ने पूछा।
'चाहे वह छुछंदर भी हो।' द ग्रेट ने कहा।
'और अपना आदमी कौन होता है ?' पूछने वाले ने फिर पूछा।
'अपना आदमी ? लाला।'"[15]

आज के बौद्धिक समाज में जातिवाद जहाँ गहरे पैठ चुका है वहीं 'तत्सत पांडेय' जैसे बुद्धिजीवी लोग भी मौजूद हैं जो जातिवाद जैसे मुद्दे से विलगाव रखते हैं। सभी वर्गों को एक ही नजर से देखते हुए समाज के प्रत्येक छोटे से लेकर बड़े तबके का सम्मान करते हैं। यह वह व्यक्ति है जो थोड़े समय में ही 'मियाँ जमील' और उनके आसपास रहने वाले मुस्लिम बुड्ढों से बचपन के साथियों की तरह घुल–मिल जाता है। ब्राह्मण होते हुए भी मुस्लिम 'मियाँ जमील' से कम समय के परिचय के बावजूद उसके घर जाने पर राज़ी हो जाता है। उत्तेजक और बौखलाए हुए वातावरण के बावजूद सड़क के किनारे ही मियाँ जमील से शेरो–शायरी की जाने लगती है। तत्सत पांडेय जातिवाद को नकारने वाले पात्र की भूमिका अदा करते हैं।

एक ब्राह्मण पुरोहित परिवार में जन्म लेने के बावजूद आचार्य जी ब्राह्मणवाद की विकृतियों तथा विसंगतियों से अवगत हैं, इसलिए इस ब्राह्मणवाद को समानान्तर साम्राज्यवाद कहते हैं। उनकी मान्यता थी कि "ब्राह्मणवाद ही इस देश की प्रगति में बाधक है। यह एक अलग तरह का उपनिवेशवाद है जिससे जनता को लड़ना पड़ेगा। कोई भी आजादी मुकम्मिल नहीं होगी जब तक ब्राह्मणी उपनिवेश का खात्मा नहीं होगा।"[16] दूधनाथ सिंह ब्राह्मणवाद की इन विसंगतियों का प्रतिकार ही नहीं करते वरन् सुविधाभोगी बौद्धिक वर्ग के छद्म एवं नपुंसक विरोध को भी रेखांकित करते हैं। आचार्य जी यह प्रश्न करते हैं, "कहाँ है तुम्हारे वर्ग मुक्त समाज की जनता ? क्या

धर्म के सवाल पर इस देश के सारे लोग ब्राह्मण हो जाते हैं ?"[17]

भारतीय राजनीति में प्रवेश कर चुके 'जातिवाद' के कीटाणुओं को भी देखा जा सकता है। शुक्ल जी एक कम्युनिस्ट कार्यकर्त्ता हैं, परन्तु 'खाते' वहाँ हैं और 'अँचवते' यहाँ हैं। जातिवाद के विषाक्त माहौल में सिद्धान्त और व्यवहार की पवित्रता से अधिक महत्वपूर्ण जाति है, इसका संबंध मिसिर ही 'जेनेटिक्स' से जोड़ते हैं। उनके ही शब्दों में – "क्योंकि सिद्धान्त और विचार यहाँ अल्पमत में हैं, ... दिखावटी हैं। बाँभन होना, ठाकुर होना, बनिया, कायस्थ होना यह महत्वपूर्ण है। यहाँ तो आस्थाएँ ही दूसरे प्रकार की हैं। और वो प्रबलतम हैं संस्कारगत हैं।"[18]

सर्वात्मन भी सोचता है कि पार्टी की नीतियों एवं 'सर्वहारा' वर्ग की अंतिम विजय में अटूट आस्था रखने के बाद भी लोगों और पार्टी के बीच फासला घटने की अपेक्षा बढ़ा है। जब सर्वात्मन इसका कारण जानना चाहता है तो उन्हीं के एक नए साथी ने उत्तर दिया – "जनता ग़रीबी के बारे में नहीं, जाति के बारे में इन्टेरेस्टेड है कामरेड।"[19] लेकिन जातिवाद भी तो एक प्रकार की साम्प्रदायिकता है। भोले और भ्रमित जनमानस को जाति प्रथा की धोखाधड़ी से मुक्ति के लिए एक जन–संघर्ष की आवश्यकता है परन्तु किसके नेतृत्व में ? क्योंकि, "पहले जो कामरेड्स थे उनमें बहुत सारे अब अपनी जातियों के मूर्धन्य नेता है। और फिर जाति के नेतृत्व के नाम पर दुनिया भर के लुच्चों–लफ़ंगों, विचारहीन, अवसरवादी, विधानसभा और संसद में आ बैठे हैं ... दुनिया का सबसे बड़ा प्रजातन्त्र जातिवादी सरगनाओं का अखाड़ा है चाहे सर्वहारा हो या उच्च कोटि के वैज्ञानिक – सब इसके जरखरीद ग़ुलाम। मूर्खता की एक उजड्ड दृश्यावली है, जिसे संसदीय बहस कहते हैं और देश–विदेश के विद्वानों और व्याख्याकारों को हमारी इस संसद–धर्मिता पर गर्व है।"[20]

सर्वात्मन सोचता है कि यह 'खडमंडल' जिसने आज दमदार संघर्ष का रूप ले लिया है, इसके नेतृत्वकारी चौधरी वर्ग को 'ब्राह्मणी शक्ति' अपने चंगुल में फंसा लेगी। इस खतरे के प्रति सावधान रहना जरूरी है क्योंकि इन नवचौधरी वर्ग में भी अवसरवादी, मूर्ख और माफियावर्ग सक्रिय है। वर्तमान की राजनीति में जो यह नया उठान आया है, उसकी शक्ति और सीमाओं को पहचानते हुए कॉमरेड मिसिर जी कहते हैं कि पिछड़े और दलित में राजनैतिक चेतना का अभाव है। वे साम्प्रदायिकता

जैसे मुद्दे पर उदासीन रहते हैं। इस उदासीनता का कारण मिसिर जी आर्थिक, अंध-धार्मिक आस्था और जातिवादी स्थितियों में देखते हैं। अब तो हालात यह हो गए हैं कि व्यक्ति अपनी भूख, ग़रीबी और बदहाली की चिन्ता नहीं करते, जाति के नाम पर दौड़ पड़ते हैं। मिसिर जी कहते हैं, "मैं आपसे सच कहता हूँ साथी, धरम–करम के मामले में ये हिन्दुत्ववादियों का साथ देंगे और वोट अपनी जाति वालों को देंगे। धर्म इनका डर है, जाति और कुनबा इनकी आस्था। यही सब घालमेल है।"[21]

'आख़िरी कलाम' में भारत की पुलिस व्यवस्था भी जातिवादी हो उठी है इसे भी दिखाया गया है। दूधनाथ सिंह ने पुलिस व्यवस्था की वास्तविकता को दर्शाने की जी तोड़ कोशिश की है। जो केवल अपनी जाति का दम भरती दिखाई देती है। मिसिर जी इसे देश के दमन–तंत्र का अंग मानते हैं। इनकी मान्यता है कि भारत की पुलिस व्यवस्था अंग्रेजों का रचा चक्रव्यूह है जो हर चीज़ शक से शुरू करती है और आजादी के बाद भारतीय पुलिस का मानसिक उत्थान–पतन उसी औपनिवेशिक घेरे में बंद है। "... चूल्हे भांड में जाए नौकरी और चूल्हे भांड में जा लाडले।' अरे जब धरम ही नहीं रहेगा तो नौकरी लेकर चाटेंगे ? मैं बांभन हूँ सुच्चा। तीन कौंडी पांडे का बेटा। और ये साला लाला–फाला मुझे मुअत्तली का डर दिखा रहा है ? हो जाए मुअत्तली। तुम तो मुगलों के जमाने से हराम की उड़ा रहे हो हमें तो दयानिधान का ही आसरा है।"[22] ऐसी पुलिस व्यवस्था से क्या आशा की जा सकती है, जो जातिवाद के गहरे गर्त में तब्दील हो चुकी है। जिसका सारा कार्य व्यापार ही जाति से शुरू होता है और वही समाप्त हो जाता है। अतः जातिवाद भारतीय समाज में घुन की तरह लग चुका है। जिससे कोई भी क्षेत्र अछूता नहीं रह गया है। चाहे वह प्रशासनिक क्षेत्र हो, राजनीतिक क्षेत्र हो या फिर विश्वविद्यालयी क्षेत्र सभी इस एक 'जातिवाद' शब्द के सामने गौण पड़ते जा रहे हैं।

भारत में विभिन्न सम्प्रदाय के लोग निवास करते हैं। इन विभिन्न धर्मों एवं सम्प्रदायों के लोगों ने भारतीय संस्कृति को पल्लवित एवं विकसित करने में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है। लेकिन धीरे–धीरे विभिन्न सम्प्रदायों के बीच ईर्ष्या, द्वेष एवं पृथक्करण की भावना बलवती होती चली गई। इनके बीच पाई जाने वाली ये भावनाएँ आज समाज के लिए एक समस्या बन चुकी हैं। समाज के दो बड़े धर्मों हिन्दू और इस्लाम से कुंठित मानसिकता वाले संगठनों ने अपने–अपने सम्प्रदाय खड़े कर

लिए। दोनों धर्मावलंबी अपने को एक–दूसरे से श्रेष्ठ समझने लगे और अब स्थिति है कि दोनों एक–दूसरे के कट्टर शत्रु के रूप में उभर रहे हैं। हिन्दू और मुस्लिम सम्प्रदायवादियों ने कट्टर, घृणाजनित और भयानक, हिंसक स्थिति उत्पन्न कर दी है जिसे अयोध्या में साफ़ तौर पर देखा जा सकता है। अयोध्या में हिन्दू सम्प्रदायवादियों के विशाल जन–समूह ने हृदय विदारक स्थिति उत्पन्न कर दी है और अयोध्या की साक्षी विरासत को दरकिनार करते हुए अल्पसंख्यक मुस्लिम समुदाय के हृदय में भय और आतंक का माहौल पैदा कर दिया है। जिसके कारण गफ्फार खाँ जैसे बुजुर्गों को अयोध्या से पलायन करना पड़ा। ये वे मुसलमान हैं 'जिनके दादा राजा अयोध्या के उन्तालिस साल तक दर्जी रहे। 32 से 39 तक नगर कांग्रेस कमेटी के मेम्बर रहे। फिर 'भारत छोड़ो आन्दोलन' से आजादी तक और उसके बाद सन् 49 तक जिला कांग्रेस कमेटी में रहे।' वही आज दर–दर की ठोकरें खाने को मजबूर हैं। इन हिन्दू सम्प्रदायवादियों की वहशत यह है कि इन्होंने हिन्दू–मुस्लिम एकता के प्रतीक 'आफताब अली' के मज़ार को ध्वस्त कर दिया। अल्पसँख्यकों के मन के भय एवं बेबसी को इस संवाद में देखा जा सकता है :

'मैं तो दिन में हजारों बार जै श्रीराम बोलता हूँ।' मियाँ ने भीड़ के दफा होने के बाद जैसे सफाई देते हुए कहा।

'क्यों बोलते हैं ?' आचार्य जी ने झनककर कहा।

'क्या बिगड़ जाता है।' मियाँ ने कहा।

'बिगड़ता तो है हुजूर, ... मगर फिर भी ...।'[23]

इस 'मगर फिर भी' में एक लाचार बेबस इंसान का जो चेहरा उभरता है वो कई दृष्टियों से अर्थगर्भी है और जो सोचने को मजबूर करते हैं कि क्या देश धार्मिक तत्ववादियों के सामने अपनी अस्मिता को सौंप चुका है और मानवद्रोही यह उन्माद इसी तरह जारी रहेगा। यहाँ भारत का धर्मनिरपेक्ष मानस कहाँ है ? आचार्य जी के शब्दों में :

"किसने जलाई बस्तियाँ, बाजार क्यों लूटे
मैं चाँद पर गया था, मुझे कुछ पता नहीं।"[24]

एक पैशाचिक उन्माद से ग्रस्त नगर में अल्पसँख्यक समुदाय की क्या स्थिति होती है इसका बेहद मार्मिक वर्णन 'आख़िरी कलाम' में प्रस्तुत है। अयोध्या की बाबरी–मस्जिद के पिछवाड़े की मुस्लिम बस्ती के लोगों में भय, निराशा, अलगाव, बेबसी और पलायन की स्थितियों की जो कथा छवियाँ दूधनाथ सिंह ने उपन्यास में रची हैं वे इसके कुछ बेहद मार्मिक व अर्थपूर्ण प्रसंगों में से एक हैं, "हमारा तो कलेजा पत्थर हो गया हम तो कुछ सोचते ही नहीं। बातें याद आती हैं तो तुरन्त हँसना शुरू कर देते हैं। हवा में मुँह उठाकर हँसता हूँ। जैसे कुत्ता रोता है। कुछ दिनों में लोग कहने लगेंगे, पागल हो गया है। अभी भी कहते हैं ... बच भी जाएँगे तो क्या करेंगे। जम्मू की गलियों में पागल हो फिरा करेंगे।"[25]

अपनी मिट्टी और अपने वतन की हवाओं से व्यक्ति आन्तरिक रूप से कितना जुड़ा रहता है यह मियाँ जमील के उपर्युक्त वाक्य को पढ़कर महसूस किया जा सकता है। जो अयोध्या की छोटी-सी चिड़िया को भी अपने घर के सदस्य की तरह पहचानता है। मियाँ जमील जैसे लोग ही हैं जिन्होंने जम्मू कश्मीर में मुस्लिम कट्टरपंथियों द्वारा दी गई यातनाएँ भोगी हैं। मुस्लिम सम्प्रदायवादियों ने साम्प्रदायिक कट्टरता के कारण मियाँ जमील को अयोध्या वाला होने के कारण न जम्मू कश्मीर में स्वीकार किया और न हिन्दू सम्प्रदायवादियों ने उसे मुस्लिम होने के कारण अयोध्या में अपना माना। न तो उसे अपनी कौम ने अपना माना, न वहाँ के लोगों ने जहाँ की मिट्टी में वह पलकर बड़ा हुआ ? जिस व्यक्ति को अपने घर, अपनी मिट्टी, अपनी जगह के पशु–पक्षियों से इतना लगाव है वह व्यक्ति 'बीच का' व्यक्ति होकर रह जाता है। हिन्दू सम्प्रदायवादियों ने यह स्थिति पैदा की है जिसकी परिणति हमें मियाँ जमील में देखने को मिलती है जिसे 'ब्लू ब्लड' कहा जाता है। अपनी ज़र–ज़मीन से जुड़े व्यक्ति के रूप में मियाँ जमील ने गहरी छाप उपन्यास में छोड़ी है। जो पागल होकर भी अयोध्या के परिसर में बने अपने घरों को छोड़कर कहीं नहीं जाना चाहता। इस तरह इंसान को इंसान न मानकर केवल उसके धर्म से उसे पहचाना जाना कहाँ तक सही है ? धर्मावलम्बियों की यह कट्टर धार्मिक आस्था एक इन्सान को पागल होने पर मजबूर कर देती है।

आचार्य जी की मान्यता है कि गाँधी जी ने धर्म को मिलाकर सर्वधर्म सम्भाव का बड़ा कार्य करना चाहा परन्तु यह सब धर्मों को मिलाने से सम्भव नहीं होगा बल्कि

धीरे–धीरे सब धर्मों को ख़त्म करने से होगा। वे गाँधी जी के विचारों में दुरुपयोग की संभावना देखते हैं। धर्मावलम्बियों के कट्टर धर्म का यह परिणाम है कि इन सम्प्रदायवादियों ने 'रघुपति राघव राजाराम' वाले 'भजन' से 'ईश्वर अल्ला तेरे नाम' वाला हिस्सा निकाल बाहर किया है।

'पूरब का ऑक्सफोर्ड' भी आज तंगनजरी और जातिवाद का अड्डा बना हुआ है। शिक्षा के वास्तविक सरोकारों से दूर होता जा रहा है। 50 के दशक में नेहरू जी ने यहाँ के नौजवानों का आह्वान किया था, 'दिमाग़ी ग़ुलामी' छोड़कर सपनों के नये भारत के निर्माण का, धार्मिक भेदभाव दूर कर समरस भारत की स्थापना का, "... ये जो धरम और जात–पात, ये जो ऊँच–नीच का भेदभाव है, ये जो समाजी अहमकाना हरकतें हैं – ये सब बन्द होनी चाहिए। ये सब बातें इन्सान को तंग–दिमाग़ी का शिकार बनाती हैं। ... और हमारे ये नौजवान ... ये नई नस्ल इसकी मिसाल कायम करें। ... तब हम दुनिया के सामने अपने को हर लिहाज़ से बेहतर कौन की शक्ल में पेश कर सकेंगे। ... जो उस्तवार नहीं, जो सोचने की ज़हमत नहीं उठाती, जो धरम और करम कांड के गोरखधन्धे में फँसी हुई नीचे – वो नीचे रसातल को जा रही है। नौजवानों इसे मत होने दो, इसका सामना करो। यह ग़लतख्याली है, तंग–नज़री का नतीजा है। इसी तंग–नज़री की वजह से हमारा ख़ूबसूरत मुल्क दो हिस्सो में तक़सीम हुआ जिसकी वजह से ... हाँ जिसकी वजह से कई हिस्सों, शहरों, क़स्बों और बहुत सारे इलाकों में क़त्ल ओ ग़ारत मची ... जिसके लिए हम सब क़ुसूरवार है ...।"[26] आज उसी 'पूरब के ऑक्सफोर्ड' का शैक्षणिक एवं सांस्कृतिक पर्यावरण सड़ाँध से भरा है।

बाबरी–मस्जिद ध्वंस के बाद बुलाई गई बैठक मे प्रोफ़ेसर सर्दी, हीटर, विश्वविद्यालय की 'अन्तर्कथा' नियुक्तियों से जातिवादी तिकड़म पर रस लेकर बात करते हैं। एक प्रोफ़ेसर इसे 'हिन्दू रिनेसाँ' कहता है जो 'ज़्यादा गहरा और ज़्यादा वैज्ञानिक' है। जब प्रोफ़ेसर मौलाना मुर्तजा अली कहते हैं कि वहाँ मस्जिद थी, कहाँ ? तो प्रोफ़ेसर गण इसे 'हिन्दू तुष्टीकरण' और 'एक घिरे हुए आदमी का बयान' कहते हैं। एक व्याख्याता का वक्तव्य दृष्टव्य है – "हमारा काम रिसर्च और उत्खनन में प्राप्त कंकालों और मृद्भांडों का सर्वेक्षण करना है। तब हम क्यों फँसे, जबकि हम जानते हैं कि सब कुछ नश्वर है। ... घुन्ने ने मुझे यक़ीन दिला दिया कि हमारा

धर्मनिरपेक्षता का पोज जरूरी है तो मैंने शुक्ल के ड्राफ्ट पर दस्तख़त नहीं किया। मैं धर्मनिरपेक्ष आज भी हूँ, लेकिन मैं मस्जिद ढाहने की निन्दा भी नहीं करूँगा।"[27] अंततः हाँ–ना करते हुए विरोध प्रस्ताव तैयार हुआ और कुलपति ने सारे प्रोफ़ेसरों को हस्ताक्षर के लिए कहा, प्रोफ़ेसर एक–दूसरे का मुँह ताकने लगे। कुलपति, कुलसचिव और कुलसचिव प्रेस–सेक्रेटरी को हस्ताक्षर और विश्वविद्यालय की मोहर के साथ एक रुटीन खानापूर्ति की तरह सरकार को भेज देने का आदेश दिया। पूरब के इस ऑक्सफोर्ड का यही स्वार्थी, जातिवादी बौद्धिक माहौल है जिस पर आचार्य जी की टिप्पणी ध्यातव्य है – "सिर्फ उन्हीं लोगों को मत देखो जो अभी सन्ध्या–स्नान के बाद जैकारा लगाते हुए गए हैं ... उन्हें भी देखो। तुम्हारा बौद्धिक जगत भी इन्हीं सुसंस्कृत लोगों से भरा पड़ा है। ... उनका अन्धत्व भी एक सुसंस्कृत अंधत्व है। ... सत् को जानकर भी वह असत् से अपनी सुरक्षा की गारन्टी चाहता है। ... इसीलिए जो जितना बड़ा ज्ञानी है, वह उतना ही ढोंगी, लम्पट और आत्मवंचक है। ... यही वह चैतन्य चालाकी है जो चारों ओर फल–फूल रही है। यह 'पैसिव रेजिस्टेन्स' की वही पिछाड़ी है जहाँ ईमानदारी एक लोथड़े की तरह लटकी हुई है।"[28] जब बौद्धिक जगत की जातिवाद के इस कुंठित सम्प्रदायवाद से अलग नहीं हो पाया है तो आम जनता की बात ही छोड़िये। यह है आज का समाज और उनकी असलियत को उजागर करता उनका चेहरा।

सांप्रदायिकता की धारणा पूर्णतः धार्मिक अंधभक्ति से सम्बन्धित है। यह एक प्रकार की उग्र भावना है। जो अपने को सर्वोच्च मानती है और दूसरे धार्मिक समूह से विद्वेष और घृणा रखती है। इस प्रकार की धार्मिक अंध भावना के कारण घृणा, द्वेष, उपेक्षा, तिरस्कार एवं निन्दा ने जन्म ले लिया है।

साम्प्रदायिक आधार पर देश का विभाजन और उसके परिणाम स्वरूप फैला हुआ साम्प्रदायिक उन्माद इतिहास की ऐसी घटनाएँ हैं, जिनके प्रभाव से हम आज भी मुक्त नहीं हो सके हैं। माना तो जा रहा था कि वैज्ञानिक विकास के साथ–साथ जन–साधारण की धार्मिक आस्था कमज़ोर पड़ जायेगी पर वह दिनों–दिन दृढ़ होती जा रही है। सांप्रदायिकता के पीछे हिन्दुओं अथवा मुसलमानों का हाथ नहीं होता बल्कि राजनीतिक लोगों के निहित स्वार्थ ही इसे प्रज्ज्वलित करते हैं। राजनीतिक दल साम्प्रदायिकता की अग्नि को भड़काकर अपने स्वार्थ की पूर्ति करने पर तूल गए

हैं। उनकी राजनीति का आधार तो सत्ता की प्राप्ति है, अतः वे भोले जन–मानस को साम्प्रदायिकता के विष से विषाक्त कर अपनी ओर आकृष्ट कर रहे हैं। प्रेमचन्द ने साम्प्रदायिकता पर विचार करते हुए कहा, "क्या साम्प्रदायिकता उसी को कहते हैं जो धर्म और आचार पर आधारित हो। वह भी तो साम्प्रदायिकता है, जो राजनीतिक सिद्धान्तों पर आधारित होती है। अगर हिन्दू–मुसलमान एक दूसरे से लड़ते हैं तो क्या सोशलिस्ट और डेमोक्रेट एक–दूसरे की पूजा करते हैं ? उनकी आपसी लड़ाइयाँ भी उतनी ही भयंकर, उतनी ही रक्तमय होती हैं।"[29] साम्प्रदायिकता के कारण ही इस देश में पहली बार धर्म के आधार पर दो बड़े धर्मों को मानने वाले जन–समूहों को अलग–अलग आँका गया और दोनों को अपनी अलग पहचान बनाने की चिंता हुई। परिणामस्वरूप दोनों सम्प्रदायों की धार्मिक और सांस्कृतिक भिन्नताएँ उनकी विशेषताएँ बन गईं। और आज यह स्थिति है दोनों एक–दूसरे के कट्टर शत्रु बन गए हैं।

आज के हालात में सांम्प्रदायिकता भारत के लिए एक बड़ा खतरा बनी हुई है। राम जन्मभूमि बाबरी–मस्जिद मुद्दा प्रचंड साम्प्रदायिकता पैदा कर रहा है और इससे देश की एकता एवं अखंडता को भयंकर ख़तरा पैदा हो गया है। पूरा उत्तर प्रदेश बारूद के ढेर में बदल गया है और महज एक चिंगारी विस्फोट करने के लिए काफी है।

6 दिसम्बर 1992 से पहले ऐसी परिस्थितियाँ पैदा की गईं जिससे आमजन को भावनात्मक रूप से भड़काया जा सके। भारतीय समाज में राम का अद्वितीय स्थान है। वह ऐसा धार्मिक–सांस्कृतिक प्रतीक है जिसका स्वरूप देशव्यापी है, विशेषकर उत्तरी भारत में वह ऐसे सभी मूल्यों का मूर्तिमान रूप है जिसे हिन्दू ग्रहण करते हैं। वह लाखों लोगों के दिलो–दिमाग को छूता है। इसलिए लोगों को उत्तेजित करने की बहुत लम्बी प्रक्रिया चली जिसमें काफी समय लगा। लोगों को भड़काया गया कि इस मस्जिद का निर्माण बाबर ने मंदिर तोड़कर करवाया था। मगर 1949 से पहले तक यह कोई मुद्दा नहीं बन सका था। दिसम्बर 1949 में कुछ हिन्दुओं ने मस्जिद में हिन्दू देवी देवताओं की मूतियाँ स्थापित कर दीं। इस घटना ने सांप्रदायिक रूप ले लिया और विद्वेष गहराता चला गया। शीघ्र ही साम्प्रदायिक मानसिकता से ग्रस्त मजिस्ट्रेट ने मस्जिद को विवादग्रस्त क्षेत्र घोषित कर ताला डलवा दिया, और हिन्दू–मुसलमान दोनों का प्रवेश वर्जित कर दिया। सन् 1980 तक शांति बनी रही परंतु उसी दौरान

विश्व हिन्दू परिषद सक्रिय हो उठी। परिषद् ने राम जन्मभूमि की मुक्ति की माँग करते हुए एक व्यापक जन आन्दोलन छेड़ दिया। आन्दोलन का भावात्मक रूप बहुत ही विस्फोटक था, इसे देखते हुए 1986 में अचानक फ़ैजाबाद के जिला जज ने सरकार के आदेश का पालन करते हुए मस्जिद के द्वार खोल दिए और हिन्दुओं को प्रवेश करने की अनुमति दे दी। यह सब देखकर मुसलमान भी मैदान में कूद पड़े और उन्होंने 'बाबरी–मस्जिद संघर्ष कमेटी' बनाई और मुसलमानों में उग्र एवं उन्मादपूर्ण अभियान शुरू करके बाबरी मस्जिद को फिर से मुस्लिम नियंत्रण में देने का माँग की। इसके एवज़ में हिन्दू सांप्रदायिकतावादियों ने सन् 1989 में मंदिर का शिलान्यास किया जिसके लिए मस्जिद के निकट जगह चुन ली गई। शिलान्यास के लिए देश के प्रत्येक गाँव, क़स्बे और शहर से व्यक्ति एक–एक ईंट लेकर चले जिस पर राम खुदा हुआ था। इस आन्दोलन की पहचान राष्ट्रीय फलक पर उभरती चली गई क्योंकि भारी संख्या में साधु संत इसमें शामिल होते चले गए। इसके परिणामस्वरूप व्यापक फ़लक पर लोगों में सांप्रदायिकता फैलती चली गई और सांप्रदायिक दंगों में वृद्धि होती गई। बची कसर लालकृष्ण आडवाणी की 1990 में निकली रथ-यात्रा ने पूरी कर दी। रथ–यात्रा के जरिए सम्पूर्ण देश में इस आन्दोलन को भारती जन–समर्थन प्राप्त हुआ और सांप्रदायिकता का खुला रूप हमारे सामने आया। यह राम जन्मभूमि आन्दोलन अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचा 6 दिसम्बर 1992 को, जब लाखों लोगों की सांप्रदायिक, उन्मादी, उत्तेजित भीड़ ने मस्जिद को धराशायी कर दिया। इसलिए ठीक कहा गया है कि, "इससे बड़ी राष्ट्रीय त्रासदी क्या होगी कि एक बार विभाजन झेल चुका कोई समाज अपने शरीर में उन्हीं दरारों को फिर से पैदा हो जाने दे। पिछले चार दशक का अनुभव तो यही बताता है कि 1947 की भयंकर त्रासदी से हमारे देश के कर्णधारों ने कुछ भी नहीं सीखा है। समाज की दरारों को भरकर, एक आधुनिक समाज का निर्माण करना तो दूर रहा, उसने इन दरारों को चौड़ा ही किया है।"[30]

'आख़िरी कलाम' में दूधनाथ सिंह ने पूरी अयोध्या के द्वारा सांप्रदायिकता के घिनौने रूप को उजागर किया है। हिंसा, आतंक, लूटपाट, मारकाट, तोड़–फोड़, आगजनी इन सभी का अन्धी उन्मादी कारसेवा द्वारा चित्रोद्घाटन उपन्यासकार ने किया है। सम्पूर्ण अयोध्या बकौल 'तत्सत पांडेय' कारसेवकों का सामूहिक शौचालय बनी हुई है। दूधनाथ सिंह की तरह ही 'आख़िरी कलाम' के पात्र 'तत्सत पांडेय'

मार्क्सवादी कम्युनिस्ट हैं जो हिन्दुत्ववादियों की धार्मिक और साम्प्रदायिक विचारधारा के विरोध में खड़े हैं।

उपन्यास में 'तत्सत पांडेय' फ़ैजाबाद में 'सचल ग्रामीण पुस्तकालय' के उद्घाटन पर व्याख्यान देने पहुँचते हैं और विषय भी चुना हुआ है 'किताबें शक पैदा करती हैं।' व्याख्यान शुरू होता है जहाँ उन्मादी धार्मिक भीड़ पूरे देश से इकट्ठी है। इसी तने और बौखलाए हुए माहौल में व्याख्यान शुरू होता है, जहाँ पुलिस का कोई प्रबन्ध नहीं किया गया है वातावरण को सम्भालने के लिए।

धर्म के प्रति अंध आस्था और निष्ठावान ये लोग धार्मिक ग्रन्थों की वाहवाही और धर्मग्रन्थों की केवल तारीफ़, प्रशंसा और अच्छाई सुनना चाहते हैं। हिन्दू धर्म को पराकाष्ठा पर पहुँचाना चाहते हैं। वही इन्हें मिलती है तुलसीदास की घोर आलोचना और रामचरितमानस का एक धार्मिक ग्रन्थ में परिवर्तित हो जाना। तत्सत साफ़ शब्दों में कह देते हैं किताबों का अर्थ है सच्चा ज्ञान और तुलसीदास कवि होते हुए भी धर्मग्रन्थ हैं। उत्तेजित और उन्मादी कारसेवक इस आलोचना से भड़क उठते हैं। पूरे पण्डाल में आग लगा दी जाती है। ज्ञान की प्रतीक पुस्तकों को लूटा जाता है। ग़ुस्से में ये उन्मादी आचार्य जी की कार को भी आग लगा देते हैं। चारों तरफ हिंसक भीड़ मार–काट मचाने लगती है। पूरा अयोध्या शहर अफवाहों, दहशत डर, आतंक और कानाफूसी से भर जाता है। कारसेवक तो ऐसी स्थिति के लिए स्वयं तैयार थे। उन्हें थोड़ी सी चिंगारी मिली और वे भभक उठे। बिल्लेश्वर ठीक कहता है कि, "वे (कारसेवक) अपना काम कर रहे हैं और देख रहे हो, कितने ठाठ से कर रहे हैं। तड़क–भड़क फूँ–फा। मारदेंगे – काट देंगे। रास्ते में आए तो कुचल देंगे। यानी पूरी ताकत, पूरे दमखम, पूरी गुंडई के साथ। इसके साथ वे मस्ती लेंगे, और राज करेंगे।"[31] अयोध्या के वातावरण में व्याप्त उन्माद कितना भयानक है, कितना हिंसक है और मनुष्यता को कैसे लहूलुहान किए हुए है यह दिखायी पड़ जाता है।

'सचल ग्रामीण पुस्तकालय' के दहन से पूर्व रिहर्सल के बाद कारसेवा अपने चर्मोत्कर्ष में आती है 'बाबरी मस्जिद' को धराशायी करने में। कानफोड़ू और दहला देने वाले 'जय श्रीराम' के उच्चारण के साथ ही धार्मिक उन्मादी भीड़ गैतियों, फावड़ों, बड़े–बड़े लंगड़ों और मूंज के रस्सों से बाबरी–मस्जिद को धराशायी करने में

जुट जाती है और अंत में मस्जिद को ढहा दिया जाता है। चारों तरफ फूँ–फा, मार देंगे, काट देंगे जैसा शोर है, चारों ओर भारी भीड़ और मूंड ही मूंड नज़र आते हैं। सांप्रदायिकता की ऐसी पराकाष्ठा कहीं नहीं देखी जा सकती जो एक धार्मिक स्थल को नेस्तनाबूत करने के लिए देश–विदेश से इकट्ठी हुई है। यही वह उग्र रूप है जो धर्म को पाखण्ड कहने वाले 'तत्सत पांडेय' को घायल ही नहीं करती बल्कि अंत में मार भी डालती है। आपस में प्रेम और मैत्री से रहने वालों के बीच घृणा वैमनस्य, डर, दहशत ला खड़ा करती है। 'रघुपति राघव राजा राम' में से 'ईश्वर अल्लाह' निकाल देती है। पूरी अयोध्या को हिंसक आतंकी वातावरण में तब्दील कर देती है। चारों ओर दहशत, आतंक, डर, हिंसा और हत्या का साम्राज्य स्थापित कर देती है। मुस्लिम बस्तियों को जलाती है। अपने को अयोध्या की महारानी का दर्जी कहने वाले बूढ़ों को मार डालती है। मियाँ जमील को सचमुच का पागल कर देती है। यह उग्र साम्प्रदायिकता के पागलपन का आनन्द उठाते कारसेवक सारी रेल गाड़ियों को कारसेवक गाड़ियाँ बना देते हैं। रास्ते में आती नदियों को गंदा ही नहीं करते बल्कि खिली--फैली फसलों को उजाड़ते हैं। यह धार्मिक उन्माद में अंधे लोग देश के किसानों को पीटते ही नहीं, उनकी झोपड़ी में आग भी लगा देते हैं। यही उग्र सांप्रदायिक कारसेवक जहाँ स्टेशन मास्टर को घायल कर, उसका चश्मा तक तोड़ देते हैं, वहीं चाय बेचने वाले लड़के को भी मारते हैं, उसकी केतली को भी तोड़ देते हैं। स्टेशन पर तोड़–फोड़ ही नहीं करते बल्कि दुकानों को तबाह भी करते हैं। 'शुद्ध शाकाहारी पांडे भोजनालय' को लूटते हैं। ये उन्मादी साम्प्रदायिक लोग सम्पूर्ण देश की गतिविधियों पर हावी हो जाते हैं। इन उन्मादी धार्मिक लोगों के पागलपन और क्रूरताओं से भरे वातावरण के चित्रण द्वारा दूधनाथ सिंह ने दहशत के माहौल को अच्छी तरह उद्घाटित किया है।

ऐसी दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति में भविष्य की क्या कल्पना की जा सकती है यह सोचा जा सकता है ? साम्प्रदायिकता की इस आग ने देश को जला डाला है और इन राजनीतिज्ञों ने अपना स्वार्थ सिद्ध किया है। दुर्भाग्य की बात यह भी है कि आज़ादी के बाद देश में राष्ट्रीय–एकता, समानता, लोकतंत्र, धर्मनिरपेक्षता और समाजवाद के जिन राष्ट्रीय आदर्शों की दुहाई दी गई, व्यवहार में वोट की स्वार्थी राजनीति ने इन सारे आदर्शों को अपने–अपने ढंग से इस्तेमाल भर किया है। इस

सबसे सार्वजनिक जीवन में विषमताएँ ही पैदा हुई हैं। इस विषैली साम्प्रदायिकता का रूप भविष्य में क्या होगा इस पर विचार करते हुए प्रेमचन्द कहते हैं, "वर्तमान साम्प्रदायिकता के बाद उस साम्प्रदायिकता का युग आने वाला है जो राजनीति प्रधान होगा, श्रम और पूजा का भीषण संग्राम छिड़ेगा। इस सांप्रदायिकता में तो कुछ सहिष्णुता है। वह साम्प्रदायिकता तो सामूहिक स्वार्थ की उपज होगी और यह मानना पड़ेगा कि स्वार्थ धर्म से कम घातक नहीं है।"[32] यह है आज की साम्प्रदायिक उन्माद की स्थिति जिसमें कहीं अपनत्व की भावना नहीं है केवल स्वार्थ ही स्वार्थ भरा पड़ा है। इस तरह देखा जाए तो साम्प्रदायिकता की यह विष बेली निरन्तर बढ़ती जा रही है। अतः यह कहना ज़्यादा सार्थक होगा कि, "साम्प्रदायिकता एक ऐसी चीज़ है जो बुद्धि का विरोध किए बग़ैर आगे नहीं बढ़ सकती। वह स्वार्थ का वास्तविक ज्ञान हासिल करने की बजाय अर्द्धसत्यों और झूठी अफवाहों पर जिन्दा रहती है। वह विद्वेष और घृणा जैसे भावों को उत्तेजना और उन्माद के छोर तक ले जाकर और सहयोग तथा प्रेम जैसे बुनियादी भावों को नष्ट करके मनुष्यों को आत्महीन तो बनाती ही है, बुद्धि और विवेक के प्रखर आध्यात्मिक औजारों से भी वंचित कर देती है।"[33] साम्प्रदायिकता मनुष्य की बुद्धि और विवेक पर अपना साम्राज्य कायम करती है और उसकी सही और गलत सोचने की शक्ति को क्षीण करते हुए उस पर अपना क़ब्ज़ा जमाए रखती है। उसे मशीन की तरह अपने दम पर चलाती है। अतः साम्प्रदायिकता के इस उग्र रूप से बचाव आवश्यक है परन्तु इसका कोई समाधान निकलता अभी नहीं दिखाई देता।

सांप्रदायिकता का फासीवादी स्वरूप

फासीवाद धर्म, जाति के श्रेष्ठता के दम्भ पर आधारित ऐसी राज्य व्यवस्था है जिसकी शक्ति विरोध का दमन करने में निहित है। फासीवाद पूर्णतः अपने को श्रेष्ठ समझते हुए सर्वशक्तिमान मानता है। कठमुल्लेपन पर आधारित यह सदैव प्रतिपक्ष का दमन करता है। इसके समकक्ष प्रतिपक्ष होता भी है तो वह घुटने टेकने को मजबूर हो जाता है। अतः "स्वतंत्रता, समता और बंधुत्व के लोकतांत्रिक स्वरूप को ध्वस्त कर यह एक ऐसी कठमुल्ला वैचारिकी को प्रस्थापित करना चाहता है जहाँ

तमाम बहुलताएँ एवं विविधताएँ अपनी–अपनी निजता परित्याग कर एक रंग, एक झंडे, एक नारे तले एकीकृत हो जाए।"[34]

उपन्यास धर्म निरपेक्ष भारत में सांप्रदायिक फासीवादी ख़तरे को उजागर करता है। शासन व्यवस्था पर प्रश्न चिह्न लगाने को आतुर उपन्यास के केन्द्रीय पात्र 'तत्सत पांडेय' हिन्दुत्ववादियों की सांप्रदायिक मनोवृत्ति को 'कुछ ज्यादा ही समझते हैं' और उस पर टीका–टिप्पणी करने से नहीं चूकते।

"फासीवाद की ख़ूबी है कि वह चाहे धर्म के रास्ते से आकार पा रहा हो, जाति घृणा के रास्ते से, अंध–क्षेत्रीयतावाद, वंश–वृक्षवाद या अनियंत्रित उदारीकरण के रास्ते से, उसमें एक प्रभावी लड़ाकूपन होता है। उसमें एक आक्रामकता होती है। उसमें एक मिथ्या कल्याणकारी और संरक्षण भाव, एक आश्वासन भी होता है।"[35] यहाँ यह संयोग स्वाभाविक ही है कि बाबरी मस्जिद राम जन्मभूमि की पृष्ठभूमि में धार्मिक उन्माद को दूधनाथ सिंह ने उपन्यास की शक्ल दी है। आज राम के नाम पर यह उन्माद और हिन्दुत्ववादी षड्यन्त्र एक विडंबना ही है। "फासीवाद वैचारिक स्तर पर एक दमघोंटू वातावरण है। इसलिए वह सबसे पहले तर्क, विचार और संवेदनशीलता की कमर तोड़ता है। ऐसा करके ही वह एक आकर्षक, लुभावना और आँखें चौंधिया देने वाला छद्मवेश धारण कर पाता है।"[36] हिन्दुत्ववादियों की इस छल नीति के बीच तुलसीदास और रामचरितमानस की भूमिका की चर्चा औपन्यासिक विमर्श को केन्द्रीयता प्रदान करती है। अयोध्या के धार्मिक स्थल की महिमा, राम को देवत्व प्रदान करना, तुलसीदास को श्रेष्ठ हिन्दू कवि और रामचरितमानस को धार्मिक ग्रन्थ के उच्च स्थान पर रखना सांप्रदायिक फासीवादी हिन्दू विमर्श का उद्‌धाटन है। तुलसीदास की रामचरितमानस का प्रयोग ब्राह्मणवादी शक्तियों ने गैर ब्राह्मणों पर आधिपत्य जमाने के लिए किया है।

'आख़िरी कलाम' में दूधनाथ सिंह तुलसी के 'उत्कृष्ट कवि कर्म के 'विचारों की तानाशाही' में रूपान्तरण व 'मूढ़ और अन्धी आस्था तैयार करने' की प्रक्रिया की भी तार्किक पड़ताल करते हैं। तुलसी की 'डिवाइस' को वे प्रोफेसर 'तत्सत पांडेय' के तर्कों में यूँ विन्यस्त करते हैं ... "जो तुलसीदास कहते हैं। शिव के मुँह से कहते हैं। ... यह तो एक डिवाइस है एक ढंग ... एक तकनीक ... लेकिन वह तुलसीदास

ही है ... बहुत ही सघन कवित्य है लेकिन विचारों की तानाशाही में जाकर खत्म होते हैं ... उसी अंधी आस्था का कमाल है यह ... जो आप देख रहे हैं ... उसी वैचारिक तानाशाही का कमाल, जो अब जाकर उभरा है। जो कथा 1575 ई. में रची गई, उसका असर चार सो वर्षों बाद उजागर हो रहा है। ... कोई भी कवि कर्म अगर हिंसक धर्मग्रन्थ में परिणत हो जाए तो उसे आप क्या कहेंगे ?"[37] इन सांप्रदायिक, हिन्दुत्ववादी लोगों ने यह स्थिति पैदा कर दी है कि भारतीय समाज धर्मों में विभाजित होने लगा है। जिसमें दो बड़े धर्मों को मानने वाले हिन्दू और मुसलमान अपने–अपने हितों को सर्वोच्च समझते हैं और सत्ता प्राप्ति के लिए इसी धर्म के हथियार का इस्तेमाल करते हैं। बहुसंख्या में फैले इस हिन्दू धर्म का अपने हक के लिए प्रयोग करते हैं। यह सांप्रदायिकता का फासीवादी स्वरूप आज के समय में छिपा हुआ नहीं है।

'आख़िरी कलाम' सांप्रदायिक हिन्दुत्ववादियों के छल को सिरे से उद्घाटित करता चलता है कि किस प्रकार ये ब्राह्मणवादी संरचनाएँ कमज़ोर, बेबस, दीन–हीन लोगों को धर्म में अंधा कर अपना उल्लू सीधा करने पर लगी हुई हैं। जहाँ व्यक्ति, समाज, शासन–व्यवस्था उसके पीछे एक बंधुआ मजदूर की तरह हाथ बांधे खड़ी हैं वीरेन्द्र यादव के अनुसार, "यह अनायास नहीं है कि 22 नवम्बर 1949 को बाबरी–मस्जिद में रामलला की मूर्ति रखे जाने से लेकर 6 दिसम्बर 1992 के बाबरी–मस्जिद विध्वंस तक अयोध्या या उसके आस–पास के ग्रामीण इलाक़ों में रामचरितमानस का पाठ धार्मिक उन्माद को भड़काने के लिए किया गया।"[38] से स्पष्ट होता है कि सांप्रदायिक फासीवाद की यह चरम पराकाष्ठा किसी एक दिन का हल्ला–बोल बाबरी–विध्वंस नहीं थी बल्कि वर्षों से सोची समझी और निरन्तर गतिमान होती हिन्दुत्ववादियों की साजिश थी जो 6 दिसम्बर 1992 को अपने पूरे आत्मबल के साथ फूटी।

तुलसीदास की 'रामचरितमानस' का सही और सटीक अर्थ तो इन हिन्दुत्ववादियों ने समझा ही नहीं या उसे समझने की कोई कोशिश इन्होंने नहीं की। बल्कि सत्ता प्राप्त करने के लिए इसका दुरुपयोग ही किया। तुलसीदास ने रामचरितमानस लिखकर राम को जो देवत्व प्रदान किया तो देखा जा सकता है कि राम को देवत्व ऐसे ही प्राप्त नहीं हो गया। बल्कि सत्ता त्याग कर, वनवास जाकर और दीन–दुःखी बेसहारा लोगों की सहायता कर प्राप्त हुआ। परन्तु हिन्दूवादी होने का दम भरते ये

लोग राम के रामत्व का इस्तेमाल सत्ता प्राप्त करने के लिए करते हैं। जहाँ 'जय श्रीराम' का स्मरण करते ये लोग धार्मिक उन्माद में अंधे हो चुके हैं वहीं हिंसा, आतंक, डर, दहशत, आगजनी, मार–काट का आह्वान कर रहे हैं। जहाँ राम को देवत्व की पदवी हासिल हुई सौम्य, निर्मल, सरस व्यवहार के कारण, वहीं ये धार्मिक उन्मादी राम को नाम का अपने स्वार्थ के लिए ग़लत इस्तेमाल कर रहे हैं। हिन्दुत्वादी माइन्ड स्वार्थीपन में जी रहा है। अतः कहा जा सकता है कि "अयोध्या के वातावरण में एक ही गूँज हो सकती है हिन्दुत्व की, उस हिन्दुत्व की जिसकी स्थापना संघ–परिवार ने की है। यह है एक धर्म, एक भाषा और एक राजनीति की समस्या का स्वरूप यानी तानाशाही का चरित्र। यहाँ जनतंत्र नहीं है। यहाँ 'तत्सत पांडेय' ही घायल नहीं होते, पुस्तकें ही नहीं लूटी जाती, कैमरे भी तोड़े गये, पत्रकार भी पीटे गये।"[39]

आज वर्तमान समय में राम जन्मभूमि साम्प्रदायिक मुद्दा बना हुआ है जिसे राष्ट्र के हित में नहीं लिया जा सकता। परन्तु राष्ट्र के शीर्षस्थान से लेकर नीचे तक सारा भारत ही राममय हो उठा है। जिसमें ये सांप्रदायिक लोग अपने अस्तित्व का प्रश्न लिए खड़े हैं जो अपने को सबसे बड़ा "हिन्दू हितैषी" और "मुस्लिम हितैषी" साबित करने पर जुटे हुए हैं। श्रीराम के चरित्र की सुगंध ने विश्व के हर हिस्से को प्रभावित किया है। साकेत महाकाव्य में मैथिलीशरण गुप्त ने तो यहाँ तक कहा है कि –

"राम तुम्हारा चरित्र, स्वयं ही काव्य है
कोई कवि हो जाए, सहज संभाव्य है"

रामचरितमानस ही क्यों, अनेकानेक ग्रन्थ ऐसे हैं जो श्रीराम के पावन चरित्र को समर्पित हैं। वाल्मीकि रामायण से लेकर गोविन्द रामायण तक, महर्षि वाल्मीकि से लेकर गुरु गोविन्द सिंह तक रामकथा को अपनाकर कौन ऐसा है जो धन्य नहीं हुआ। परन्तु रामचरितमानस का जनमानस को भड़काने के लिए जैसा प्रयोग हुआ वैसा किसी अन्य ग्रन्थ का नहीं। उन स्मरणीय मर्यादा पुरुषोत्तम की स्मृति में एक भव्य मंदिर का निर्माण हो इसका विरोध कौन करना चाहेगा ? इसलिए इन सांप्रदायिक फासीवादी लोगों ने राम जन्मभूमि आन्दोलन, जो एक विशुद्ध हिन्दू अस्मिता का आन्दोलन बन गया है, उसे एक राजनीतिक रंग दे दिया और उसमें हिन्दुत्व के नाम पर अपनी रोटियाँ सेकनी शुरू कर दी।

जयश्रीराम–जयश्रीराम के इस जन विरोधी शोर ने श्रीराम से कुछ सीख न पायी। श्रीराम के आदर्शों की इस व्यापक जन–समुदाय को बहुत ज़रूरत है। ये आदर्श हमें यह सीख देते हैं कि हम किसी की आस्था को ठेस न पहुंचाएँ। हिन्दू, मुसलमानों की आस्था को और मुसलमान हिन्दुओं की आस्थाओं का मजाक न उड़ाएं। इस देश में संवैधानिक रूप से सभी धर्म के लोगों को अपने–अपने धर्म का प्रचार–प्रसार और अपने धर्म के अनुरूप पूजा करने का पूर्ण अधिकार प्राप्त है। इसमें कहीं कुंठा, हिंसा, आतंक, दहशत, डर का नामोनिशान नहीं होना चाहिए परन्तु इन फासीवादी सांप्रदायिक लोगों ने बड़ी ही विडम्बनात्मक स्थिति पैदा कर दी है। अपने को ये श्रेष्ठ से श्रेष्ठतर समझते हैं। मासूम, अनपढ़ और नासमझ लोगों के बौद्धिक दिमाग की सफाई कर उनमें अपनी कूटनीतियों के अनुसार ज्ञान, चेतना भरी है। अपनी विचारधारा के प्रचार–प्रसार के लिए राम के नाम का बखूबी प्रयोग किया और इस फासीवादी स्वरूप को उजागर किया है। फासीवादी सांप्रदायिक लोग निरन्तर ही आवश्यक समझते हैं कि आज हिन्दुत्व के इस खोखले तमाशे को बनाए रखने के लिए निहायत जरूरी है कि उसे निरंतर उत्तेजना व उन्माद की बड़ी से बड़ी खुराक दी जाए और सांप्रदायिक दंगों के ज़रिए उसका लगातार प्रोत्साहन किया जाए। और इस सबके लिए उन्होंने विशाल बहुसंख्या में फैले इस 'हिन्दू समाज' की कमज़ोरी को पकड़ा और राम के नाम का सहारा लेकर अयोध्या में मंदिर–विमर्श को तूल दी।

यह वही समय है जब सभी तरफ आधुनिक बनने की होड़ मची हुई है, तो दूसरी तरफ यह तनातनी, स्वार्थीपन और अवसरवादिता का दम भरते लोग व्यक्ति को संवेदनाशून्य बनाकर गहरे गर्त में डालते जा रहे हैं। सर्वात्मन सोचता है, "वह खंडमंडल ही है जिसने आज दमदार संघर्ष का रूप ले लिया है ... अपने हक के लिए अपने मत का उपयोग यही तो है। इससे घबराना क्या। लेकिन खतरा वहाँ है जहाँ इस संघर्ष के अगुवा चौधरी वर्ग को ब्राह्मणी शक्तियाँ अपने चंगुल में फंसा लेगी। इनके भीतर जो अवसरवादी मूर्ख और माफिया हैं, उनका इस्तेमाल कर लेगी।"[40]

दूधनाथ सिंह ने 'रामचरितमानस' के 'हिंसक धार्मिक ग्रन्थ' में परिणत होने और उसमें जो ब्राह्मणवादी मानस है उसे खोलकर रख दिया है। बाबरी मस्जिद ध्वंस अभियान के दौरान 'रामचरितमानस' का इस्तेमाल इन सांप्रदायिक फासीवादी लोगों ने बखूबी किया और अंततः मस्जिद को तोड़ डाला गया। ए.जी. नूरानी का मत है कि,

"वास्तव में यह 'चमत्कार' अखिल भारतीय रामायण महासभा द्वारा मस्जिद के बाहर रामचरितमानस के नौ दिनों के अखण्ड पाठ का चरमबिन्दु था।"[41] सांप्रदायिक फासीवादी इन लोगों ने हिन्दुओं के इस पवित्र रामचरित्रमानस ग्रन्थ का उपयोग मुसलमानों के ख़िलाफ़ करते हुए आज की अयोध्या की तस्वीर ही बदल दी है। जहाँ अल्पसंख्यक मुस्लिम समुदाय में दहशत, डर, आतंक व्याप्त हो गया है, वहीं पूरी अयोध्या मार–काट, हिंसा, हत्या, लूट–पाट का पर्याय बन गई है। इस संबंध में इतिहासकार रोमिला थापर लिखती हैं कि, "आम धारणा है कि रामचरितमानस की रचना मुस्लिम मुग़ल शासकों के विरुद्ध हिन्दुओं को संगठित करने के लिए की गई थी। सच यह है कि जब–जब ब्राह्मण कृतिकारों को लगा कि ब्राह्मणवादी व्यवस्था खतरे में है तो उन्होंने कलियुग की बुराईयों का चित्र गढ़ा। ... एक ब्राह्मण होने के नाते तुलसी निःसन्देह उन समकालीन धार्मिक आन्दोलन (जो आज उस व्यापक दायरे में हैं। जिन्हें हिन्दू नाम से जाना जाता है) को लेकर उद्विग्न थे जो ब्राह्मण आधिपत्य एवं उनके ग्रन्थों का निषेध कर वैकल्पिक धार्मिक मतों का प्रचार करते थे और गैर–ब्राह्मणों के बीच जिनका प्रभाव बढ़ रहा था।"[42] इस सबके बावजूद 'मानस' का यह 'हिंसक पाठ' करना अपने आप में एक विडम्बनात्मक स्थिति है जो फासीवादी सांप्रदायिक ताक़तों ने पैदा की है। धर्मनिरपेक्ष भारत में हिन्दू राष्ट्रवादी शक्तियों का उभार फासीवादी खतरे का प्रत्यक्ष संकेत है। फासीवादी ताकतों को बेपर्दा करने में 'आख़िरी कलाम' एक कदम आगे है।

बौद्धिक समाज और समस्याएँ

6 दिसम्बर 1992 को बाबरी–मस्जिद विध्वंस का भयावह दिन और उसके बाद भड़के दंगे बौद्धिक वर्ग पर उंगली उठाते हैं। सांप्रदायिक ताकतों की कार्यपद्धति से बौद्धिक समाज विमुख बना रहा। जिससे उनका संवेदनहीन चेहरा ही सामने आया। बाबरी–मस्जिद गिराने के लिए लगातार कार्यवाहियाँ की जाती रहीं, परन्तु बौद्धिक समाज ने इन सब स्थितियों को नजरअंदाज ही किया।

'आख़िरी कलाम' बौद्धिक समाज के इसी खुले पक्षपात को उजागर करता है। उपन्यास के केन्द्रीय पात्र 'तत्सत पांडेय' ने बौद्धिक समाज के इसी पक्षपाती रूप

की निंदा करते हुए जगह–जगह टिप्पणी की है जो उनकी दृढ़ता और प्रगतिशीलता को उजागर करती है। 'तत्सत पांडेय' का पूरा जीवन 'एक आदमी के जिद की नैतिक रिपोर्ट है।' सर्वात्मन अपने गुरू के 'जिद्दी' स्वभाव का कारण बताते हुए कहता है, "क्योंकि अपने एक सच के लिए उन्होंने अपना जीवन अर्पित किया। अब जब उनके पाँव कब्र में लटके है, वे उसे छोड़कर क्या पाएँगे ?"[43] इस 'भेड़ियाधसान' में राजसत्ता की भूमिका एवं आमजन की सहभागिता लोकतांत्रिक भारत के सामने कई प्रश्न उपस्थित करती है। जब राजसत्ता का प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष समर्थन इन शक्तियों के साथ हो तो स्थिति बड़ी भयावह हो जाती है और इन शक्तियों के हौंसले बुलंद होते हैं। देखा जा सकता है, "उन्हीं का राज है, उन्हीं की पुलिस ... उन्हीं की फौज मूर्ख।" जब सभी जगह इन्हीं साम्प्रदायिक लोगों का वर्चस्व छाया हुआ है जो स्थिति को कैसे सुधारा जा सकता है, सोचा जा सकता है ?[44]

'आख़िरी कलाम' में बौद्धिक समाज की हर नब्ज़ को पहचाना गया है। 'तत्सत पांडेय' ने क्या चाहा और क्या हुआ ? जब भी उन्होंने एक अध्यापक, एक चेतनाशील मनुष्य होने के नाते समाज को सही राह दिखाने की कोशिश की, सभी ने उनकी अवमानना कीं लाखों लोगों की उन्मादी भीड़ में अपनी प्रोटेस्ट दर्ज कराते व्यक्ति के रूप में 'तत्सत पांडेय' ने बौद्धिक अध्ययनशील और चेतनायुक्त इस समाज पर प्रश्न चिह्न लगाया है। हिन्दू–मुस्लिम की साझी विरासत बाबरी–मस्जिद को विवाद–ग्रस्त ढाँचा बताना और 6 दिसम्बर को तोड़ा जाना, बौद्धिक समाज की नपुंसकता को ही दर्शाता है। सम्पूर्ण शासन तंत्र ही मूक दर्शक की तरह हाथ पर हाथ धरे बैठा रहा और यहाँ तक की स्वयं प्रशासन और राजनीतिक नेताओं ने उनका साथ दिया बल्कि कारसेवकों से भरी गाड़ी के प्लेटफार्म पर उतरने पर इन्हीं राजनेताओं ने उनका आदर–सत्कार किया और रसद पहुँचाई।

कारसेवकों के जत्थों के जत्थों ने गदर का रूप उद्घाटित कर दिया और अंत में बाबरी–मस्जिद को नेस्तनाबूत कर डाला और उसके बाद भड़के दंगों से स्थिति भयावह होती चली गई। परन्तु प्रशासन ने स्थिति को काबू करने के लिए कोई भी कदम नहीं उठाया बल्कि कारसेवकों की कार्यशालाओं को देखती रही। बौद्धिक वर्ग का सुन्न चेहरा हमारे सामने उपस्थित होता है। समय, समाज, स्थिति, कार्यशालाएँ सभी को नज़रअंदाज करते जाना सिर्फ बुद्धिजीवियों की विवेकशून्यता को दर्शाता है।

अयोध्या के इस 'गदर' में 'तत्सत पांडेय' द्वारा 'प्रोटेस्ट मार्च' बौद्धिक समाज के मुँह पर तमाचा है। इस 'मार्च' में 'तत्सत पांडेय' के चरित्र की दृढ़ता और भव्यता खुलकर सामने आती है। इस गदर के बीच एक तिरासी साल का बूढ़ा आदमी अकेला खड़ा हो गया है, उन्मादी भीड़ के खिलाफ और तुम हाथ पर हाथ धरे घरों में दुबके बैठे हो। जहाँ तिरासी साल का यह बूढ़ा अयोध्या में प्रोटेस्ट दर्ज कराता है वहीं बौद्धिक वर्ग से एक प्रश्न भी करता प्रतीत होता है कि तुम्हें शर्म नहीं आती, यह स्थिति तुम्हारी चेतना को नहीं झकझोरती। तुम जनता को जगाने का प्रयास कर सकते हो ख़ाली क्यों हो, चलो उठो और मेरा साथ दो ?

दूधनाथ सिंह मार्क्सवादी दर्शन से गहरे रूप में जुड़े हैं और इस चिन्तन प्रणाली में आस्थावान हैं। लेकिन इस दर्शन और चिन्तन प्रणाली की वाहक कम्युनिस्ट पार्टी की रीति–नीति से दुखी हैं। उसके क्रियाकलाप से उन्हें क्षोभ है। वह अपना काम सही तरीके से और संगठित होकर नहीं कर रही। इसका सीधा उदाहरण है 'फैजाबाद का पार्टी कार्यालय' और उसकी दीन–हीन दशा जहाँ अंधेरा और गन्दगी है मच्छरों का निवास है। और तो और कार्यकर्त्ता की रोज़ी रोटी का जुगाड़ तक नहीं है। इसलिए मिसिर जी का दाना–पानी जब–तब मठाधीश स्वामी अचेतानन्द के यहाँ से आता है। भूख, प्यास और बदहाली अपने ठेठ विरोधी के पास जाने की स्थिति पैदा करती है और इसमे स्वयं साथ देता है पार्टी नेतृत्व। उनकी ज़रूरतों का कोई ख्याल नहीं रखा जाता, इसलिए मिसिर जी कहते हैं "माने आचार्य जी जब एक दिन लुट–पिटकर आएंगे तो उनके आराम की व्यवस्था कहाँ होगी ?"[45] उनका सीधा इशारा अचेतानन्द जी के आश्रम की तरफ है। जनता की पार्टी का संचालन जनता से नहीं, ऊपरी नेतृत्व से होता है। निचले स्तर के कार्यकर्त्ताओं की आवाज अनसुनी कर दी जाती है बस सबको खानापूर्ति चाहिए, फाईलें तैयार करते रहिए, भाषण दीजिए, सभाएँ बुलाइए। सर्वात्मन सोचता है, "पहले जो कामरेड्स थे उनमें बहुत सारे अब अपनी जातियों के मूर्धन्य नेता हैं।"[46] जब यह हालत है तो हो चुका स्थिति में सुधार। सोचने से कुछ नहीं होता, करने से होता है। परन्तु सर्वात्मन और मिसिर जी ही अकेले हालात ठीक नहीं कर सकते, उन्हें पार्टी, समाज, प्रशासन सभी की जरूरत पड़ती है। परन्तु सभी इससे पीछे हटना चाहते हैं। मिसिर जी कहते हैं, "और फिर हम जिम्मेदारी समझते हैं कामरेड्, लेकिन तीन लाख कार्यकर्त्ता कल के दिन

लाल झंडे के नीचे इकट्ठा नहीं कर सकते। तीन लाख कारसेवकों के मर्दन के लिए कम से कम एक लाख जुझारू जाँबाज़ चाहिए। तब हम करके दिखा देते। केन्द्र का आदेश होता, पहले से पहल की जाती, तैयारी की जाती, पूरे देश को मोबलाइज़ किया जाता। लेकिन जब सभी लोग 'वक्तव्यों'से ही काम चला रहे हैं तो रामदीन मिसिर ही क्या वह निराले इकलौते चले हैं जो भाड़ फोड़ लेगें ?"[47]

आचार्य जी आज के राजनैतिक नेतृत्व की असलियत को उजागर करते हैं उनका सीधा कथन है कि, "जो इस बर्बरता को रोक नहीं सकते, उन्होंने जनता पर से अपना नैतिक दावा उठा लिया है।"[48] इन सभी दलों ने जनता पर से अपना दावा खो दिया है, क्योंकि इस 'भेड़ियाधसान' में या तो ये शामिल हैं या मौन सहमति रखते हैं अथवा इन प्रश्नों पर जनता से मुख़ातिब होने से डरते हैं। आचार्य जी 'वैकल्पिक राजनीति' की तलाश करने का सुझाव देते हैं नहीं तो इससे अच्छा 'गृहयुद्ध' को मानते हैं। अपने निष्कर्षों में भले ही अतिवादी लगे परन्तु सोचने को अवश्य विवश करते हैं। उन्हीं की चिन्ता, उन्हीं के शब्दों में, "सब झूट्ठे और मक्कार और सब मिले हुए। सभी कारसेवक। ... कोई फर्क नहीं है। पुलिस और फौज और कानून के महात्मा – सभी है नशे में ...।"[49]

दूधनाथ सिंह ने उन सभी लोगों को कटघरे में खड़ा किया है जो अयोध्या के इस 'गदर' को नहीं रोक सके। 6 दिसम्बर 1992 के दिन सारे प्रगतिशील, बुद्धिजीवी और नेता, जनता को लेकर एक प्रोटेस्ट मार्च कर सकते थे। झूठ के प्रतिकार के लिए घर से बाहर निकल सकते थे, मगर ऐसा नहीं किया गया। झूठे, मक्कार, उन्मादी, बर्बर, हिंसक इन अन्ध–धार्मिक लोगों के लिए जैसे सारा मैदान ख़ाली कर दिया गया। संगठित जनता इस उन्मादी भीड़ को रोकने में ज़रूर कामयाब होती परन्तु बौद्धिक वर्ग ने कुछ नहीं किया। दूधनाथ सिंह इस वर्ग की नपुंसकता पर निशाना साधते हैं – "वे छुट्टे थे और हजारों की तादाद में। और फौज बीकापुर में डेरा डाले हुए थी। और प्रधानमंत्री इस वक्त गहरी नींद में थे। और सत्ता 'जॉगिग' कर रही थी। और पुलिसवाले बस अड्डे पर मुफ्त की जलेबी खा रहे थे। और देश के लोग तमाशाई थे। उन्हें कौन रोक सकता था कि दुनिया की मारामारी में अपने को संभाले।"[50]

रचनाकार तथाकथित तौर पर बौद्धिक समाज के क्रियाकलाप से नाराज़ है जो इस कुकृत्य के दर्शक मात्र हैं या बौद्धिक विलास में संलग्न टी.वी. के सामने गोष्ठियों में अपनी व्याख्याएँ दे रहे होंगे और साम्प्रदायिकता तथा धर्म निरपेक्षता की बहसों में बरसों 'हैंग ओवर' में लटके रहेंगे। "और फिर एक–दूसरे को फोन करेंगे, 'आज भी कुछ नहीं हुआ ... सिर्फ वही–वही। भीड़ और नारे और अटकलें और कयास।' उनके चैन का चबाव है यह।"[51] यह है इस बौद्धिक वर्ग की सच्चाई। जिसे ये लोग छिपाते रहते हैं और बड़ी–बड़ी बखानते रहते हैं। दूधनाथ सिंह ने इनकी रीति–नीति को बेपर्दा कर दिया है जो एक मुखौटा लगाए रहते हैं समाज के सामने। हम ये हैं, हम वो हैं परन्तु "सत्ता से बाहर में साम्प्रदायिक फासीवाद का दार्शनिक विचार था और लोग इस दार्शनिक विचार का उत्स खोजने, व्याख्याएँ करने और अपने–अपने निर्णयों को प्रस्तुत करने में इतनी ढिठाई उत्साह और बेहयाई से काम लेते कि मुँह बाए रह जाना पड़ता था। जो होना है उसे होने दो, हम इतिहास लिखेंगे, व्याख्याएँ करेंगे' और निर्णय देंगे। 'अल्पसंख्यक' भी एक अंतर्वस्तु थी और लोग इसे लेकर बहुत भावुक हो रहे थे। 'धर्मनिरपेक्ष' शब्द की बड़ी छानबीन हो रही थी।"[52] यह वक्तव्य बौद्धिक वर्ग के वाग्विलास को ही स्पष्ट नहीं करता उसके चरित्र के सच को पर्दे से बाहर लाता है। जब इन कारसेवकों की तैयारी बरसों से चल रही थी तो प्रशासन इस सबसे बेख़बर कैसे बैठा रहा ? अयोध्या ही इसका पर्याय नहीं है बल्कि सम्पूर्ण देश इसमें शामिल है क्योंकि स्वयं उपन्यासकार ने इन्हें गाँवों, देहातों और बाहर से आने वाला दिखाया है। प्रशासन की इस स्थिति से आँख मूंदना उनकी विवेकशून्यता या मौन स्वीकृति को ही प्रदर्शित करता है। फ़ैजाबाद में टायरों के अम्बार जब राह चलते आम इंसान को चौंका सकते हैं तो क्यों बौद्धिक समाज और प्रशासन इससे बेख़बर रहे। सर्वात्मन सोचता है – "घटनाओं में अनिश्चय ही संसार के बदलने का नियम है। तभी संघर्ष होते हैं और तभी आदमी इतिहास की उठापटक करते हुए उसे बदलने में कामयाब होता है। लेकिन अगर सचमुच वे गँजे हुए टायर फोर्स का मूवमेंट पंचर करने के लिए हैं और यह गणित बिल्कुल मुकम्मल है तो इसका मतलब कि अच्छे और बुरे के प्रति हमारी कौम की चेतना जड़ हो गई है।"[53]

यह है हमारे देश, प्रशासन और समाज की विकृत तस्वीर को सामने लाता कड़वा सच। यह बौद्धिक समाज कहलाता वर्ग संवेदनाशून्य हो चुका है और किसी भी स्थिति पर टिप्पणी कर देना ही अपना कर्त्तव्य भर समझता है।

उपभोक्तावाद और सामाजिक परिवर्तन

उपभोक्तावाद के छल और व्यवसायिक रूप को 'आख़िरी कलाम' सामने लाने का प्रयास करता है। उपभोक्तावाद अपने लाभ और स्वार्थ के बारे में ही सोचता है। उसे किसी इंसान की संवेदनाओं से कुछ लेना देना नहीं होता। बल्कि वह सामाजिक स्थिति को दरकिनार करते हुए सदैव अपना हित साधने पर आमादा रहता है। 'आख़िरी कलाम' में उपभोक्तावाद के छद्म रूप को उपन्यासकार ने बखूबी वाणी दी है।

आचार्य 'तत्सत पांडेय' की वैज्ञानिक सूझ–बूझ, तार्किकता और बेलाग टिप्पणी करने की शैली सिर्फ उन्हीं तक सीमित है या यह कहो कि बिल्लेश्वर में उनका थोड़ा प्रतिरूप झलकता है। परन्तु इसके विपरीत एक बात यह भी है कि उनका बेटा 'माध्वानन्द' जहाँ अमेरिका में वैज्ञानिक है वहीं उनका पोता 'रविकान्त' पढ़ना छोड़कर दुकान खोल लेता है जो बचपन से ही घोर धार्मिक है और व्यापारिक लाभ की इच्छा से मंत्र बुदबुदाता है। हम देखते हैं कि तत्सत पांडेय के जीवित रहते ही उनका विद्या व्यसनी परिवार बाज़ार में तब्दील हो गया है। घर के भीतर समृद्ध–पुस्तकालय है लेकिन छज्जे पर स्पेयर पार्ट्स मोबिल और टायर। अंधविश्वास और रूढ़िवाद का व्यापार से यह रिश्ता है जो हमें रविकान्त में फलीभूत होते दिखता है। जहाँ अंधविश्वास और रूढ़िवाद व्याप्त हो वहाँ बौद्धिकता और विवेक स्वतः ही पराजित होते दिखायी देते हैं।

'तत्सत पांडेय' की बहू गायत्री का हनुमान चालीसा का पाठ पागलपन की हद तक बढ़ गया है। घर में जो घटित हो रहा है, उसी का विस्तार अयोध्या में दिखाई देता है। गायत्री और रविकान्त दोनों कारसेवकों की भीड़ में परिवर्तित दिखाई देते हैं। उनका इस्तेमाल करने वाले नेता व्यापारी लोग हैं। मुनाफा कमाने की होड़ मची है। घर में और घर के बाहर। यह मकान के दुकान बनने की प्रक्रिया है। इसमें लाइब्रेरी बेसहारा है।'किताबें शक पैदा करती हैं'तो किताबों को निर्वासित करके आस्था ऊधम मचा रही है। अध्ययन की संस्कृति ही उपभोक्तावाद, बाज़ारवाद, धर्म के इस व्यवसायीकरण का इलाज है। परन्तु किताबें इस सबको रोकने में नाकाम प्रतीत होती हैं। यह है आज का उपभोक्तावाद, जो किसी को भी सोचने नहीं देता बल्कि

अपना वर्चस्व और दमख़म बनाए रखना चाहता है। आने वाली पीढ़ियो का हश्र क्या होगा ? इस उपभोक्तावादी संस्कृति में 'तत्सत पांडेय' विचार करते हैं –"मैंने एक पीढ़ी का निर्माण किया। किस तरह ? मर खपकर। जीवन देकर। और उसका हश्र अब ये है। कुछ नहीं बचता। नालायक पीढ़ियाँ बस। मैंने क्या सोचा था और क्या हुआ। सिर्फ हनुमान चालीसा का पाठ और टुनटुनाती घंटियाँ। गधों और खच्चरों का घर है यह। और छत पर भरे हैं स्पेयर पार्ट्स और मोबिल टायर्स।"[54]

धर्म ने भी आज व्यवसाय का रूप ले लिया है। राम जन्मभूमि आन्दोलन भक्तिकाल के इस 'महान आदर्श' को नष्ट करते हुए आगे बढ़ रहा है कि वह राम के नाम को पैसे से जोड़ रहा है। वे राम को एक 'उपभोक्ता माल' के रूप में देख रहा है। 'राम' के नाम पर ये व्यवसायी फायदा उठा रहे हैं। राम भक्तों को आकर्षित करने के लिए 'आख़िरी कलाम' में एक धनी बीड़ी व्यापारी ने एक बड़ा-सा बोर्ड लगवा दिया – 'अब से इस चौराहे का नाम होगा – 'राम चौक'। अखबारों तक में इस खबर को छपवा दिया जाता है। इस 'राम चौक' में श्रद्धालुओं की भारी भीड़ है जो राम, लक्ष्मण, सीता के कटआउट के साथ ही विशाल कटआउट के रूप में हनुमान को उठाए हैं जिसे बिल्लेश्वर ने 'राम जी के कमांडो' कहा है। राम जी के धनुष पर किसी आभूषण विक्रेता का विज्ञापन लगा हुआ है। 'तत्सत पांडेय' इन व्यवसायियों की गहरी चाल को समझते हुए यह व्यंग्य करते हैं कि, "एक सचमुच का हार सीताजी के गले में पहना देते तो अच्छा विज्ञापन होता।"[55] जब व्यापारी वर्ग देखते हैं कि ऐसी स्थिति में 'राम चौक' रखना और कटआउट पर विज्ञापन लिखवाना लाभदायक हो सकता है तो वे इन धर्म के समर्थकों के अनुसार ही अपने व्यापार को आगे बढ़ाते हैं। इस स्थिति को अपने हित और स्वार्थ में प्रयोग करना उन्हें बखूबी आता है। 'राम चौक' का नाम सुनकर राम भक्तों का वहाँ उमड़ पड़ना एक अच्छा 'साईन' हैं यह स्वार्थीपन आज के समय में भी विद्यमान है। अपने व्यापार के लाभ के लिए व्यापारिक लोगों ने जो विज्ञापनों की झड़ी लगाई हुई है वह किसी से छिपी हुई नहीं है।

धर्म के इस व्यवसायीकरण ने धर्म को धर्म न रहने देकर एक धंधा, एक व्यवसाय के रूप में रूपान्तंरित कर दिया है। आज वर्तमान में भी यह हित और स्वार्थीपन धर्म के साथ गठजोड़ करके अपना लाभ उगाहने को आमादा हैं। सुधीश पचौरी के अनुसार, "शिलान्यास में प्रति शिला फीस रखी गई, फिर पूजन के लिए पैसे

बटोरे गए फिर राम मन्दिर के लिए राशि इकट्ठी कर ली गई। इस आन्दोलन ने राम को महंगा बना डाला। जिसके पास धन है, राम उसी के हो गए। भक्तिकाल में राम सबके थे, अब सिर्फ पैसे वालों के बना दिए गए। यह है नए किस्म का संपन्न ब्राह्मणवाद।"[56] कर्मकांडी और दिखावटी 'धर्म' में लोगों को ज़बर्दस्ती लिप्त करना। उन्हें आने वाले ख़तरे से आगाह करने के लिए पंडित–मौलवियों और धर्म रक्षकों की झोली भरवाना और दान–दक्षिणा करना बताया जाता है जिससे ब्राह्मणों की आय बनी रहे। बेबस, ग़रीब और नासमझ जनता को धर्म के मार्ग पर अग्रसर करके उन्हें अंधविश्वासी, बर्बर और विवेकहीन बनाया जाए जिससे उनके लिए धनोपार्जन का रास्ता सदैव साफ रहे। ब्राह्मणवाद की यह कूटनीति व्यक्ति को कमजोर बनाती जा रही है। ब्राह्मणवाद का वर्चस्व बढ़ता जा रहा है। तभी तो स्वयं ब्राह्मण होते हुए भी 'तत्सत पांडेय' कहते हैं कि 'ब्राह्मणवाद ही इस देश की प्रगति में बाधक है।' सुधीश पचौरी भी ब्राह्मणवाद के खोखले मानदण्डों के पाखण्ड को खोलते हुए लिखते हैं, "राम जन्मभूमि आन्दोलन फिर से धर्म के संकट में होने की गुहार इसलिए लगाता है कि पंडितों का एक वर्ग धर्म के व्यवसाय–शायद सबसे बेहतरीन व्यवसाय होने के मर्म को समझ गया।"[57]

पुराने युग में बाह्याडंबर कम थे, माला, पूजा, नमाज़, यज्ञ आदि शांति और समन्वय से किए जाते थे। परन्तु आज के समय में ये सब पुराने हो गई हैं। अब तो 33 करोड़ देवताओं के भी लाखों–करोड़ों किताबी संस्करण, आरती–पुस्तिका, भजन किताबें, न जाने क्या–क्या निकाले जा रहे हैं ? इस गोरखधन्धे में किताबों के अलावा भजनों, प्रार्थनाओं, नमाजों के कैसेट भी अपरम्पार मिलने लगे हैं। फिल्मी गीतों की तर्ज़ पर बनी ये भक्ति संगीत कैसेट भक्तजनों को कुछ ज्यादा ही लुभाती है। यह है सही और सटीक धर्म का खेल – धर्म में व्यवसाय और व्यवसाय में धर्म का घालमेल। 'तत्सत पांडेय जब अनेको धर्म भक्ति से पूर्ण पुस्तकें देखते हुए 'राम चालीसा' को देखते हैं तो व्यंग्य करते हैं, "रामचरितमानस से काम नहीं चला ?"[58] धर्म के इस व्यवसायी खेल पर शंभुनाथ जी की टिप्पणी भी सटीक बैठती है, "दरअसल धर्म भी महज उपभोग की वस्तु बनता जा रहा है – एक फास्ट फूड सेंटर और धर्मस्थल में फर्क मिटता जा रहा है। ख़ासकर धार्मिक प्रवचन मंदिरों का निर्माण, धार्मिक गीतों के कैसेट, आध्यात्मिक रिमिक्स, रैप में भोजन–कीर्तन, तिरूपति जैसे

मन्दिरों में लड्डू का प्रसाद से अधिक उपभोक्ता माल हो जाना धर्म स्थलों का पर्यटन स्थलों में रूपांतरण और उनका राजनीतिकरण उपभोक्तावाद के चिह्न हैं। समाज की ड्राइविंग सीट पर कभी धर्म बैठा था, आज वहां उपभोक्तावाद और उसका छलशास्त्र है। वह कलयुग था, यह छलयुग है।"[59]

व्यवसायीकरण, स्वार्थीपन, उपभोक्तावाद के इस खेल में अखबारों ने भी अहम् भूमिका अदा की है। अख़बारों की इसी मानसिकता का पता 'आख़िरी कलाम' में 'अख़बार एक विरचना है' से चलता है। अख़बार जो लोकतंत्र के प्रहरी माने जाते हैं उपभोक्ता संस्कृति के संवाहक बने हुए हैं। सरकारी उपक्रम के 'सचल ग्रामीण पुस्तकालय' के उद्घाटन के अवसर पर जो भयंकर आतंकित कर देने वाला उपद्रव मचा, उसे दैनिक अख़बारों ने अपनी–अपनी मनगढ़ंत व्याख्याओं के साथ चटकारे लेकर प्रकाशित किया। यही नहीं फ़ैजाबाद शहर की भी दो व्याख्याएँ की गईं। 'फ़ैजाबाद' और 'साकेतधाम'। नगर का नामकरण होते ही ख़बरों की व्याख्याएँ बदल गईं। फ़ैजाबाद का वही अर्थ नहीं है जो साकेत धाम का है। किसी भी शहर, गली, सड़क का यह कुंठित पवित्रीकरण ही नहीं है, यह इतिहास को बदबू में बदलना है। अख़बार निर्मित जनमानस की इच्छाओं की बदरूप तानाशाही है।

अख़बार जो जनमत निर्माण का एक अहम हथियार है, लोकतंत्र का चौथा स्तम्भ है, वह किस प्रकार अपनी निष्ठा और निष्पक्षता को समाप्त कर रहे हैं उसे इन ख़बरों के द्वारा समझा जा सकता है –

1. अयोध्या : कारसेवकों का सामूहिक शौचालय
2. जनता और किताबों के बीच में तुलसीदास
3. एक पूर्व कम्युनिस्ट द्वारा गोस्वामी तुलसीदास का अपमान
4. अपाहिज धर्मग्रन्थों से बचो
5. राम की नगरी में पुस्तक दहन
6. किताबें शक पैदा करती हैं
7. कम्युनिस्टों और कारसेवकों में भिड़ंत
8. अयोध्या मे एक विदेशी जासूस
9. कठमुल्ला फिर आया

अख़बारों में ख़बरों के ये जो शीर्षक दिए गए हैं वे न केवल निराधार है बल्कि उत्तेजक भी हैं। इनमें घटनाओं की जो व्याख्याएँ की गई हैं वे केवल साम्प्रदायिक उन्माद को भड़काने और बढ़ाने का काम करती हैं। ये केवल साम्प्रदायिक शक्तियों के हाथों में खिलौना प्रतीत होते हैं। इनका अपना कोई वज़ूद नहीं झलकता। ये अपनी जिम्मेदारी को भुलाकर केवल अर्थोत्पादन में लगे हुए हैं। बाज़ार की अन्धी दौड़ में ये पिछड़ना नहीं चाहते और इसके तहत झूठी अफवाह स्वरूप ख़बरें छापने तक को तैयार हैं। व्यवसायीकारण के रास्ते पर चलते हुए केवल और केवल पैसा बटोरना ही इनका काम है।

अख़बारों की इस तरह की रिपोर्टिंग ने जन–मानस को सिर्फ भड़काने का कार्य किया है। वास्तविक स्थिति को दिखाकर जन–मानस के सामने रखा जा सकता था परन्तु व्यवसायीकरण की होड़ में इन्होंने ऐसा नहीं किया।

संदर्भ

1. दूधनाथ सिंह – आख़िरी कलाम, पृ. 34
2. वही, पृ. 34
3. दस्तक – शताब्दी अंक, पृ. 21
4. दूधनाथ सिंह – आख़िरी कलाम, पृ. 150
5. वही, पृ. 150
6. वही, पृ. 266
7. वही, पृ. 266
8. वही, पृ. 261
9. वही, पृ. 272–273
10. वही, पृ. 272–273
11. वही, पृ. 369
12. वही, पृ. 369
13. हंस – मई, 2004, पृ. 39
14. दूधनाथ सिंह – आख़िरी कलाम, पृ. 303
15. वही, पृ. 44
16. वही, पृ. 69
17. वही, पृ. 150
18. वही, पृ. 192
19. वही, पृ. 193
20. वही, पृ. 194
21. वही, पृ. 199
22. वही, पृ. 327
23. वही, पृ. 276
24. वही, पृ. 279
25. वही, पृ. 296
26. वही, पृ. 376
27. वही, पृ. 385
28. वही, पृ. 266
29. जितेन्द्र श्रीवास्तव – भारतीय राष्ट्रवाद और प्रेमचन्द, पृ. 56
30. सं. डॉ. प्रकाश आतुर – राष्ट्रीय एकता और रचनाधर्मिता, पृ. 123

31. दूधनाथ सिंह – आख़िरी कलाम, पृ. 127
32. नन्द भारद्वाज – सांप्रदायिकता की समस्या और कविता की भूमिका, पृ. 123
33. सं. अभय कुमार दुबे – साम्प्रदायिकता के स्रोत, पृ. 196
34. पल–प्रतिपल – जनवरी–मार्च, 2005, पृ. 227
35. शंभुनाथ – संस्कृति की उत्तरकथा, पृ. 127
36. वही, पृ. 127
37. दूधनाथ सिंह – आख़िरी कलाम, पृ. 314
38. हंस – अक्टूबर, 2003, पृ. 85
39. साखी – जुलाई, 2005, पृ. 106
40. दूधनाथ सिंह – आख़िरी कलाम, पृ. 195
41. हंस – अक्टूबर, 2003, पृ. 85
42. वही, पृ. 86
43. दूधनाथ सिंह – आख़िरी कलाम, पृ. 125
44. वही, पृ. 128
45. वही, पृ. 191
46. वही, पृ. 194
47. वही, पृ. 198–199
48. वही, पृ. 150
49. वही, पृ. 166
50. वही, पृ. 166
51. वही, पृ. 273–274
52. वही, पृ. 368
53. वही, पृ. 201
54. वही, पृ. 15
55. वही, पृ. 109
56. सुधीश पचौरी – हिन्दुत्व और उत्तर आधुनिकता, पृ. 71
57. वही, पृ. 69
58. दूधनाथ सिंह – आख़िरी कलाम, पृ. 302
59. शंभुनाथ – संस्कृति की उत्तरकथा, पृ. 159–60

.....

तृतीय अध्याय

समकालीन समस्याओं के संदर्भ में आख़िरी कलाम की प्रासंगिकता

- धर्म का बढ़ता दबाव
- सांप्रदायिक उन्माद और अवसरवाद
- लहूलुहान इंसान और बौद्धिक समाज की नपुंसकता
- जातिवाद का घिनौना व्यापार
- उपभोक्तावाद का फैलाव
- संप्रदायवाद का फासीवादी स्वरूप

धर्म का बढ़ता दबाव

धर्म जीवन का पहला और अनिवार्य अंग माना जाता है। धर्म व्यक्ति को समाज में शांति सद्भाव और पारस्परिक प्रेम से रहना सिखाता है। विश्वास और रीति–रिवाज, धर्म और समाज को एकता के सूत्र में बाँधे रखते हैं। पहले समाज में धर्म का एक सम्मानजनक स्थान मौजूद था जो अब धूमिल पड़ चुका है। आज के दौर में धर्म का हानिकारक रूप प्रत्यक्ष होता जा रहा है।

धर्म मनुष्य जीवन से जुड़ा एक ऐसा मसला था जो उसके व्यक्तिगत स्तर तक ही सीमित था। धर्म के इस व्यक्तिगत रूप से न कोई हानि थी, न खतरा। परन्तु समय के बदलाव ने 'धर्म' के सौम्यकारी रूप को नष्ट कर दिया और इसके खण्डित, कष्टकारी, विकृत रूप को उजागर किया। वर्तमान समय में यह उस कुल्हाड़ी की तरह उभरा है जिसका उपयोग हम जंगल काटकर मानव समाज को बसाने के लिए भी कर सकते हैं और लाखों लोगों के सिर उड़ाकर मानव समाज को उजाड़ने के लिए भी। प्रत्येक धर्म अपने मूल रूप में मानवीय होता है। उसका ग़लत उपयोग ही साम्प्रदायिकता है। धर्म का यही दूसरा रूप आज उभर कर सामने आया है। धर्म की पैठ अब सामाजिक क्षेत्र के साथ–साथ राजनैतिक क्षेत्र, प्रशासनिक क्षेत्र और वैज्ञानिक क्षेत्रों में भी धड़ल्ले से देखी जा सकती हैं। देखा जाए तो धर्म सारी समस्याओं, मनुष्य के संबंधों और यहाँ तक कि मनुष्य की मानसिक स्थिति की जड़ों में गहरे पैठ चुका है। एम. अखलाक कहते हैं, "अगर हम ध्यानपूर्वक इसका अध्ययन करें तो पाएंगे, कि सारे फसाद की जड़ धर्म ही है।"[1]

'आख़िरी कलाम' में दूधनाथ सिंह ने धर्म के हानिकारक सामूहिक रूप का विरोध किया है। धर्म के व्यक्तिगत रूप से उन्हें कोई एतराज़ नहीं है। इसलिए 'तत्सत पांडेय' जो एक अनीश्वरवादी व्यक्ति हैं वे भी परिवार के धार्मिक कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करते बल्कि नई बहू के हाथ से आरती लेने को भी तैयार हो जाते हैं।

दूधनाथ सिंह ने 'बौद्धिक जगत' के 'धार्मिक रूप' को उपन्यास में खास तौर से उभारा है। जहाँ उन्होंने धर्म को 'अफवाह' और 'अंधत्व' फैलाने वाला घोषित किया है वहीं बौद्धिक वर्ग की 'घोर धार्मिकता' के बाने को भी उन्होंने खोलकर रख

दिया है। आज का समाज धर्म को ढाल की तरह प्रयोग करता है। उसे दूसरों से कुछ लेना देना नहीं है, केवल वह अपनी सुरक्षा चाहता है।

दूधनाथ सिंह ने उपन्यास में धर्म को मखौल और ईश्वर को असत् करार दिया है। जिस धर्म के पीछे मनुष्य अंधा बना हुआ है, उनके अनुसार उसका तो कोई अस्तित्व ही नहीं है, "अगर सारी क्षणभंगुर वस्तुओं में ईश्वर का निवास है तो क्या वह भी क्षणभंगुर नहीं हुआ ? वह सनातन कैसे हो गया ?"[2] धर्म के इसी खोखले तमाशे को दूधनाथ सिंह उजागर करते हैं।

आज इसी खोखलेपन के अंधकार में राजनीतिक लोगों ने आम इंसान को अंधा बनाया हुआ है। राजनीतिक जमात सत्ता प्राप्ति के लिए लोगों की इसी धर्म भावुक संवेदना का फायदा उठा रहा है। 'रामजन्म–भूमि बाबरी मस्जिद विवाद' इसीलिए ही ज्यादा गहराता गया क्योंकि आम इंसान इस मुद्दे से अपनी भावनाओं के कारण जुड़ गया। उनकी भावनाओं का इस्तेमाल राजनीति जमात अपने हित में खुलेआम कर रही है।

दूधनाथ सिंह ने उपन्यास में बौद्धिक समाज के छद्म रूप को भी उघाड़ कर रख दिया है। वैज्ञानिक, आविष्कारक, खगोलशास्त्री आदि जो ईश्वर को नहीं मानते, ज्ञान–विज्ञान को ही श्रेष्ठ और सही समझते हैं; भूत–भविष्य में विश्वास न करते हुए वे धर्म को नकारने का ढोंग रचते हैं। सत्य को जानते हुए भी वे धर्म के इस असत्य रूप को अपने लिए हितकर समझते हैं, "क्योंकि कौन जाने, विज्ञान के सारे नियम एक दिन बेकार साबित हो जाएँ। एक दिन सारा विज्ञान सिर्फ एक भ्रम साबित हों इसीलिए ज्ञान–विज्ञान को खोजो, तर्क का उपयोग करो, लेकिन निजी सुरक्षा और शांति के लिए सुबह की पूजा और त्रिपुंड जरूरी है।"[3]

जहाँ धर्म का दबाव व्यक्ति के निजी जीवन तक ही सीमित था वहीं अब 'सामाजिक पहचान' के तौर पर 'धर्म' को शस्त्र के रूप में इस्तेमाल किया जा रहा है। धार्मिक लोगों की जगह पढ़े–लिखे लोग कहीं ज्यादा शुभ–अशुभ के चक्कर में फँसते देखे जा सकते हैं। अतः "यह कहना गलत है कि भारत का सिर्फ ग़रीब तबक़ा ही ईश्वरवादी, भाग्यवादी है। किसी भी प्राचीन कृषक समाज की तरह भारतीय समाज में भी धर्म और मिथकीय विश्वासों की जड़ें बहुत गहरी हैं। तथाकथित शिक्षित तबक़ा

भी उससे मुक्त नहीं है अन्यथा एक प्रोफ़ेसर के घर महन्त प्रवचन देता है, एक वैज्ञानिक भविष्यफल पूछता है और एक डॉक्टर हनुमान को धोक लगाता है – ऐसा क्यों है ?"[4]

दूधनाथ सिंह व्यंग्य करते हैं – इस भौतिक संसार का सामना करने की शक्ति जिसमें नहीं है वही धर्म और ईश्वर के शार्ट–कट से अपना बचाव चाहता है। उनका सोचना है कि जब धर्म और ईश्वर के सहारे बचाव सम्भव है तो क्यों व्यक्ति किसी लफड़े में पड़े "इसलिए जो जितना बड़ा ज्ञानी है, वह उतना ही बड़ा ढोंगी और लम्पट और आत्मवंचका।"[5]

आज के इस आधुनिक युग में जिसे वैज्ञानिक युग की संज्ञा दी जाती है जहाँ, बाजार का वर्चस्व हावी है, भूमण्डलीकरण का बोलबाला है वही धर्म के नाम पर मंदिर, गुरुद्वारे, मस्जिद, चर्च आदि कुकुरमुत्तों की तरह फैलते जा रहे हैं। साधु संतों की पूरी की पूरी जमात ही पैदा हो गई है। अपने वजूद को बनाए रखने के लिए गुरुओं का वध कर देने वाले शिष्य आज के समाज में भरे पड़े हैं। पहले के समय में साधु, संत–महात्मा एक कुटिया में ही अपना सम्पूर्ण जीवन व्यतीत कर देते थे, ये सब बातें केवल इतिहास की बातें हो गई हैं। आज के समय में तो धर्म के समर्थक मठाधीश, साधु, महात्माओं ने ऐसे–ऐसे मठ बनाए हुए हैं जो अभेद्य है। उपन्यास में स्वामी अचेदानन्द ने गुरु हत्या के बाद जिस मठ का निर्माण कराया है। जहाँ जीवन–यापन के लिए सारे साधन उपलब्ध हैं। जहाँ संसार के सारे सुख एक ही जगह उपलब्ध है। इसी सम्पन्नता के लिए अचेतानन्द ने अपने शुरू की हत्या कर दी और स्वयं मठाधीश बन बैठा। इसी ठाठ–बाँट, सम्पन्नता को देखते हुए ही अचेतानन्द के शिष्य भी भविष्य में एक दिन उनकी हत्या कर देंगे। यह है हमारे समाज के धार्मिक गुरुओं की घिनौनी अंदरूनी जिन्दगी का सच जिसे 'आख़िरी कलाम' उद्घाटित करता है।

दूधनाथ सिंह की धर्म संबंधी व्याख्याओं को सतह से ख़ारिज न करते हुए भी व्यक्ति का मानस एक बार सोचने को विवश अवश्य करता है कि क्या यही है हमारा धर्म ? जिसके सहारे लाखो निहत्थे लोगों का कत्ल कर दिया जाता है।

धर्मनिरपेक्ष भारत की छवि अब धूमिल पड़ चुकी है। 'धर्मनिरपेक्ष शब्द ही

जहाँ गौण है और अपनी पहचान खो चुका है वही 'धर्म' 'धर्म की व्यापकता' अपनी जगह बनाए हुए है। वास्तविकता तो यह है कि इन शब्दों का उपयोग दिन–प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। गाँधी जी का मानना था "भारतीय संस्कृति न तो पूरी तरह हिन्दू है न ही इस्लामी और न ही कोई और संस्कृति। यह सबका समन्वय है।"[6]

वर्तमान में धर्म का दबाव हर क्षेत्र में बढ़ता जा रहा है। जहाँ अदालत में न्याय की देवी के समक्ष सच बोलने के लिए 'भगवत् गीता' पर हाथ रखकर क़सम खिलाई जाती हो, वह देश कहाँ 'धर्मनिरपेक्ष' हो सकता है। पढ़ा–लिखा बौद्धिक वर्ग भी सुबह–सुबह समाचार–पत्र खोलते ही प्रतिदिन अपना भविष्यफल देखने को आतुर रहता है। इस प्रकार धर्म को कैसे और किस तरह मनुष्य के जीवन से अलग किया जा सकता है। पारिवारिक पूजन, गृह–प्रवेश, शादी–विवाह सभी में धर्म की अहम् भूमिका है। यहाँ तक कि राजनीतिक लोग अपना कोई भी काम बिना ज्योतिष के दिए शुभ–मुहूर्त्त के बिना नहीं करते। यह है आज के समाज का 'धार्मिक' बाना जिसे नकारा नहीं जा सकता।

आज के समय में धर्म के व्यावसायिक खेल पर नज़र डालें तो धर्म और आध्यात्म से जुड़ी गतिविधियों में जन–जन की रुचि ही इसकी वजह रही कि देश के पहले धार्मिक चैनल 'आस्था' को लोगों ने हाथों–हाथ लिया। धर्म का व्यवसाय किस सीमा तक मुनाफ़े कि राह पर आगे जा सकता है इसका उदाहरण बनें हैं ये धार्मिक चैनल। इनके धार्मिक व्यवसाय को देखें तो इन पर आने वाले संतों–गुरुओं से प्रवचनों के प्रसारण के लिए उनसे पैसे वसूले जाते हैं। पिछले कुछ समय से धार्मिक, आध्यात्मिक चैनलों की बाढ़-सी आ गई है। इनके दर्शकों का दायरा भी बहुतायत में है। महर्षि, संस्कार, साधना, जी–जागरण, कुरान टीवी, सुदर्शन, गॉड टीवी, शक्ति की तरह कई और धार्मिक चैनल मैदान में हैं। समूचे विश्व के धार्मिक आध्यात्मिक चैनलों की बात करें तो इनकी संख्या सैकड़ों में है।

संतों की बढ़ती संख्या और उनके फैलते कारोबार को चमकाने का सबसे असरदार जरिया धार्मिक चैनल ही है। इनका सबसे बड़ा फायदा भविष्यवाणियाँ करने वाले ज्योतिषियों और संकटों से कथित मुक्ति दिलाने के लिए ग्रह शांति अनुष्ठान कराने वाले, तंत्र–मंत्र से उपचार करने वाले और साढ़ेसाती, शनि और मंगली होने

जैसे दुःखों का हरण करने का दावा करने वालों को हो रहा है। क्योंकि उन्हें चैनलों पर दिख जाने से श्रद्धालु ग्राहक आसानी से मिल जाते हैं, जिनसे भरपूर कमाई होती है।

इस तरह देखें तो बाजार में प्रसारित प्रवचनों के कैसेट–सीडी, सत्संग और भजनों के संग्रह, धार्मिक पुस्तकों, संतों के पोस्टर, उनकी प्रचारक पत्रिकाओं और उनसे जुड़े संस्थानों में निर्मित स्वास्थ्य उत्पादों का कारोबार भी बख़ूबी होने लगा है। इन चैनलों की वेबसाइट पर इसका विवरण मौजूद है। भारतीय धार्मिक चैनलों के कर्त्ताधर्त्ता मानते हैं कि विदेशी बाजारों में भारतीय धर्म–सामग्री और स्वास्थ्य रक्षक दवाओं की भारी माँग है। इसीलिए वे बाहरी ग्राहकों को लुभाने में भरपूर रुचि ले रहे हैं।

देश में लोकप्रिय होते हिन्दू धार्मिक चैनलों को देखते हुए इस्लाम और क्रिश्चियन चैनल भी इस मक़सद से सक्रिय हुए हैं कि अपने धर्म का वे भी समुचित प्रचार कर सकें। इसे धार्मिक चैनलों की बढ़ती लोकप्रियता की प्रतिक्रिया भी माना जा सकता है।

धार्मिक चैनलों की एक बड़ी कमी है कि इनके संचालक वेद, पुराण, उपनिषद् के ज्ञानी नहीं बल्कि बाज़ार के घाटे–फायदे का ध्यान रखने वाले लोग हैं। बाबा रामदेव जब प्रारम्भिक दौर में 'आस्था' पर आए थे तो उनके पास स्पष्ट दृष्टि थी, समाज कल्याण का कार्यक्रम था, योग–तपस्या का अमृतकुंड था, वाणी और व्यवहार में और स्वस्थ समाज का उपाय भी था। यही वजह थी कि वे आस्था की लोकप्रियता का अभिप्राय बने और चैनल के माध्यम से उनकी कीर्ति पताका भी फहराने लगी और वही क्यों, संतों की एक लंबी सूची आज नजर आती है। इनमें दो दर्जन से भी ज्यादा नाम ऐसे हैं, जिनका एक–एक कार्यक्रम लाखों के खर्च और लाखों श्रद्धालुओं की मौजूदगी में सम्पन्न होता है। इसका श्रेय चैनल पर बनी उनकी छवि को जाता है। धर्म के इस व्यवसायिक खेल का नजारा इन पर आए विज्ञापनों की भरमार से भी लगाया जा सकता है।

लेकिन खेद इस बात का है कि जिन अंधविश्वासों–रूढ़ियों के विरुद्ध लड़ाई होनी चाहिए थी, उन्हीं को इन चैनलों पर प्रश्रय मिल रहा है। धर्म के इस घिनौने व्यवसायीकरण को रोकना होगा। 'आख़िरी कलाम' धर्म निरपेक्ष मानस के पक्ष

में खड़ा एक ऐसा हथियार है जो समाज के सभी क्षेत्रों पर प्रहार करता है। धर्म की अंधी आस्था से वह व्यक्ति को बचाने का प्रयास करता है।

उपन्यास के केन्द्रीय पात्र 'तत्सत पांडेय' धर्म के इस खोखले रूप के अन्दर झाँकते हुए पात्र की भूमिका अदा करते हुए मनुष्य का इस कट्टर धर्म से बचाव चाहते हैं। वे धर्म के इस ख़ौफनाक रूप को समाप्त करना चाहते हैं इसलिए नौजवान पीढ़ी को प्रोत्साहित करते हैं। मनुष्य के शिक्षित होने पर ज़ोर देते हुए नौजवानों के धार्मिक होने पर रोक लगाते हैं। शिक्षित मनुष्य ही इन अंध आस्थाओं के विकृत रूप से बचने की क्षमता रखता है।

धर्म की सही सटीक चेतना तो नौजवानों में देखने को मिलती है। वे धर्म को न मानते हुए अच्छे और बुरे के फर्क़ को समझते हैं। दूधनाथ सिंह उपन्यास में नौजवान पीढ़ी से कहलवाते हैं, "कोऊ के धरम–अस्थान गिरावे ढहाबे से बड़ अधरम कुच्छों नईं।"[7]

धर्म संबंधी तर्क और धर्म के विकृत रूप की व्याख्या, हिन्दुत्ववादी शक्तियों का धर्म का दुरुपयोग, राजनीतिक जमात के हाथों में धर्म का खिलौना हो जाना, ब्राह्मणवादी मानसिकता का वर्चस्व सभी उपन्यास में शामिल हैं। उपन्यासकार ने इनसे जुड़े मुद्दों को इस तरह उपन्यास में संजोया है कि वह पूरी तरह प्रासंगिक हो उठा है।

देखा जाए तो धर्म जब विकृत हो जाता है तो समाज के लिए अधिक घातक हो जाता है। उस समय वह धर्म नहीं होता, धर्म की सड़ी लाश होता है जिसे समाज अपने कन्धों पर ढोता फिरता है। इतिहास साक्षी है कि सच्चा धर्म समाज को बहुत थोड़े दिनों के लिए ही मिल पाता है, सांप्रदायिक जमात उसे हर बार गँदा कर देती है। सम्पूर्ण उत्तर भारत धार्मिक विकृतियों का शिकार हो गया है। वहाँ धर्म के नाम पर आडम्बर, घृणा, हिंसा, आतंक, स्वार्थ और पाखण्ड गहरे समा चुके हैं जिसके कारण नरसंहार जारी है। धर्म के नाम पर जनता का शोषण समाप्त करना बहुत आवश्यक है। यह तभी संभव है जब हम धार्मिक मान्यताओं तथा सिद्धान्तों को केवल आस्था के आधार पर स्वीकार न करके बल्कि ज्ञान–विज्ञान के आधार पर विश्वसनीय प्रमाणों द्वारा उनकी निष्पक्ष परीक्षा करें। प्रत्येक सिद्धान्त अथवा मान्यता की व्याख्या

की जाय। किसी भी विश्वास को स्वीकार करने के लिए हमारे पास विश्वसनीय तथा पर्याप्त प्रमाण हो और सभी मान्यताओं एवं सिद्धान्तों की सत्यता के विषय में मनुष्य अपनी तर्कबुद्धि द्वारा ही स्वयं निर्णय करें। जनता इस सच को समझे कि मंदिर–मस्जिद, गिरजे, गुरुद्वारों का इस्तेमाल राजनीतिक सत्ता खुले आम अपने हित के लिए कर रही है। यही है धर्म का वास्तविक स्वरूप। इस धर्म से पिंड छुड़ाए बिना हमें बर्बरता से मुक्ति नहीं मिलेगी। मानव को एक धर्महीन समाज के निर्माण की दिशा में बढ़ना पड़ेगा। मनुष्य धार्मिक पचड़ों में न फँसते हुए अपने विवेक के जरिए सही राह चुनें। धार्मिक उन्मादियों की भीड़ में शामिल न हो अपितु अपने विवेक और चेतना बल के आधार पर दूसरों के कहने पर न भड़के, सद्बुद्धि का परिचय देते हुए सही राह अपनाएँ।

इस तरह विश्लेषण के उपरान्त यह कहा जा सकता है कि धार्मिक कट्टरता के विरोध में 'आख़िरी कलाम' अपनी पूरी क्षमता के साथ खड़ा है। 'आख़िरी कलाम' में दूधनाथ सिंह धर्मनिरपेक्ष चेतना के प्रसार में दृढ़ता से खड़े हैं। साम्प्रदायिक कट्टरता का हर तरह से इन्होंने विरोध किया है। चाहे वह धार्मिक कट्टरता का प्रश्न हो या पूजा स्थलों के दुरुपयोग का या फिर धार्मिक संगठनों की साम्प्रदायिक भूमिका का हर मोर्चे पर दूधनाथ सिंह साम्प्रदायिकता के विरोध में और धर्मनिरपेक्षता के पक्ष में खड़े दिखाई देते हैं। 'आख़िरी कलाम' ने हिन्दुत्ववादी शक्तियों के धर्म के ग़लत इस्तेमाल को बख़ूबी उभारा है।

साम्प्रदायिक उन्माद और अवसरवाद

साम्प्रदायिक दंगों का जो भयावह रूप देखने को मिलता है, वह महज़ हिन्दुस्तान के कतिपय सम्प्रदायों के बीच की समस्या नहीं है। आज दुनिया की साम्राज्यवादी शक्तियों के द्वारा विकासशील और तीसरी दुनिया के ग़रीब देशों को अपने प्रभाव में रखने और वहाँ की अर्थव्यवस्था को पंगु बनाकर उनके बाजार पर अपना कब्जा बरकरार रखने की अन्तर्राष्ट्रीय साज़िश जारी है। भारत जैसे विकासशील देशों में अलगाववाद, हिंसा, आतंक, साम्प्रदायिक तनाव और गैर बराबरी की समस्या उसी का दुःखद परिणाम है।

दुर्भाग्य की बात यह भी है कि आज़ादी के बाद देश में राष्ट्रीय एकता, समानता, लोकतंत्र, धर्मनिरपेक्षता और समाजवाद के जिन राष्ट्रीय आदर्शों की दुहाई दी गई, व्यवहार में वोट की स्वार्थी राजनीति ने इन सारे आदर्शों को अपने–अपने ढंग से इस्तेमाल भर किया है। साम्प्रदायिकता की जिन विषम स्थितियों से हमें बार–बार टकराना पड़ा है, वह दरअसल भारतीय जनमानस के लिए एक ऐसा सनातन और पीड़ादायक अनुभव है कि वह अनायास ही कला–माध्यमों की विषय–वस्तु का एक प्रमुख आधार बनता आया है। विचार करने की बात यह है कि आज आतंक और अमानुषिक हिंसा का दौर जारी है। उत्तर भारत के नगरों में धर्म और जात–पॉंत के नाम पर हिंसक आन्दोलनों के कारण तनावपूर्ण वातावरण बना हुआ है।

भारत में स्वतन्त्रता प्राप्ति के साथ–साथ ही जातीय, धार्मिक, क्षेत्रीय और भाषायी साम्प्रदायिकता की भयानक शक्लें उजागर होने लगी थीं। लेकिन बजाय उनका विनाश करने के अनेकानेक राजनैतिक हितों के चलते किसी न किसी रूप में उन्हें मात्र दबाने की चेष्टाएँ की जाती रहीं। वस्तुतः आज जो भी विघटनकारी दृश्य इस देश में दिखायी पड़ रहे हैं उनका एक ही कारण है – 'साम्प्रदायिकता'। यही राष्ट्रीय एकता की सबसे क्रूरतम शत्रु है। ज़ाहिर है कि शत्रु का विनाश यदि समय पर न किया गया और उसे मात्र किसी तरह दबा दिया गया तो वह दबे हुए रोक की भाँति ही कालांतर में अधिक हानिकारक और संभव है कि प्राणघातक तक हो सकता है।

धर्म और राजनीति का यह सम्बन्ध दोहरा होता है, दोनों ही एक दूसरे का इस्तेमाल करते हैं – पहले लोग समझते थे कि राजनीतिज्ञ धर्म का शोषण करते हैं, लेकिन अब हालत यह हो गई है कि धर्म और साम्प्रदायवादी राजनीति का शोषण करने लगे हैं। इस तरह पृथक हितों की बात करता हुआ साम्प्रदायवाद, फासीवाद का ही संस्करण बन जाता है। साम्प्रदायिकता और फासीवाद दोनों का स्वरूप मिलता-जुलता है। फासीवाद की तरह ही साम्प्रदायिकता अपनी जाति या सम्प्रदाय के पृथक् अस्तित्व और श्रेष्ठता की बात करती है और उसे स्थापित करने के लिए बल, शक्ति का प्रयोग करती है। अतः एक दर्शन या विचारधारा की तरह इसका विकास धीरे–धीरे होता गया है। सत्ता प्राप्त करने के लिए ये किसी भी हद तक जाने को तैयार है। तभी तो कहा गया है, "सत्ता के लिए संप्रदायवादी भी धर्मनिरपेक्षता की शरण में

और धर्मनिरपेक्ष भी सम्प्रदायवाद की शरण में जाने को तैयार है। सभी को किसी तरह सत्ता प्राप्ति की हड़बड़ी है। मूल्य के लिए हार जाने को कोई राजी नहीं है क्योंकि 'सत्यमेव जयते' का अर्थ हो गया है 'जो जीतता है, वही सत्य है।' जीतने वालों को मूल्यों और सिद्धान्तों को खुलकर तोड़ने और मुँह की खाने वालों को नए सिरे से इन पर चर्चा करने की आजादी होती है।"[8]

भारतीय राजनीति के निर्धारक तत्वों में धर्म और साम्प्रदायिकता अत्यन्त प्रभावशाली तत्व माने जाने लगे हैं। सम्प्रदायवाद के रूप में धर्म का प्रयोग राजनीति में जहाँ एक ओर तनाव उत्पन्न करने के लिए किया जाता है, वहीं दूसरी ओर प्रभाव और शक्ति अर्जित करने में भी धर्म माध्यम बना लिया जाता है। धर्म के आधार पर राजनीतिक दलों का निर्माण होता है, चुनावों में समर्थन और मत प्राप्त करने के लिए धर्म का सहारा लिया जाता है, जनता से की जाने वाली अपीलों, उन्हें दिये जाने वाले आश्वासनों, निर्वाचनों में प्रत्याशियों के चयन तथा मतदान व्यवहार में धर्म का राजनीतिक उपयोग देखने को मिलता है। संविधान द्वारा धर्म निरपेक्षता की नीति अपनाये जाने के बाद भी भारतीय राजनीति में साम्प्रदायिकता का प्रयोग बढ़ रहा है। सत्ता के द्वन्द्व के लिए धर्म को हथियार के रूप में इस्तेमाल किया जा रहा है। जिसका प्रतिफलन हम दंगों के रूप में देख रहे हैं।

धर्मों में बढ़ते हुए कट्रतावाद ने साम्प्रदायिकता के फैलाव और साम्प्रदायिक उन्माद के प्रभाव क्षेत्र में गुणात्मक परिवर्तन कर दिया है। सम्प्रदायवाद विकसित होकर आतंकवाद में बदल गया है। हिंसा की भयावहता भी बढ़ी है। अब धार्मिक समूहों में दंगे दो–चार व्यक्तियों की वारदात न होकर सुनियोजित हिंसक आन्दोलनों का रूप लेने लगे हैं। एक दंगे से दूसरे दंगे की शृंखला का जन्म होने लगा है। लोगों को जिन्दा जलाये जाने, अबोध बच्चों, वृद्धों को आग में झोंकने, सामूहिक बलात्कार जैसी अमानुषिक घटनाएँ आम हो गयी हैं।

यद्यपि भाषा, जाति, क्षेत्र को लेकर भी साम्प्रदायिक तनाव बड़ा है, परन्तु हिन्दुस्तान के परिप्रेक्ष्य में धर्म पर आधारित साम्प्रदायिकता की समस्या ही मुख्य है, जिसका सबसे वीभत्स रूप दंगों में दिखाई देता है। भाषा, जाति और क्षेत्र अब भी गौण है। हाँ इनको धर्म के साथ जोड़कर देखा अवश्य जाता है।

इतिहास की विकृत समझ का परिणाम यह हुआ कि अलग–अलग हिन्दू संस्कृति, मुस्लिम संस्कृति हिन्दू समाज, मुस्लिम समाज और हिन्दू सभ्यता, मुस्लिम सभ्यता की मिथ्या अवधारणाओं को बल मिला। भाषा को भी धार्मिक आधार पर विभक्त कर दिया गया। वर्तमान साम्प्रदायिक शक्तियों के प्राण इन्हीं अन्तर्विरोधों में है। जितने भी दंगे वर्तमान भारत में हुए हैं वे या तो आर्थिक हितों के द्वन्द्व से उत्पन्न हुए या फिर धर्म, संस्कृति, इतिहास, भाषा आदि की मिथ्या चेतनाओं के विकृत टकराव से हुए हैं।

भारतीय समाज में राजनैतिक साम्प्रदायिक शक्तियाँ इन तत्वों का उपयोग धड़ल्ले से कर रही हैं। धार्मिक–मिथकों, प्रतीकों, इतिहास इन सबका इस्तेमाल राजनीतिक स्वार्थों के लिए किया जा रहा है। रामजन्म भूमि – बाबरी मस्जिद इसका प्रमाण है जहाँ इतिहास के झूठे और गलत तथ्य प्रस्तुत किये गये। राजनेताओं से लेकर विभिन्न तस्करों, माफियाओं तक के हाथ इसमें संलग्न हैं।

'आख़िरी कलाम' इन सारी स्थितियों पर दृष्टि डालते हुए इनसे बचाव की भूमिका निभाता है। किस तरह जन–असंतोष और माँगों पर ध्यान देने के बजाय संवेदनाओं और भावनाओं को उभारकर साम्प्रदायिक माहौल पैदा करने की कोशिश की जा रही है, ताकि दूसरे मुद्दे प्रमुखता हासिल न कर लें, इसे स्पष्ट करता है। बढ़ती अस्थिरता, संस्थाओं के क्षरण और नेतृत्व के गहराते संकट की वजह से साम्प्रदायिकता की राजनीति को उर्वर भूमि मिल रही है। वर्तमान अवस्था राजनीतिक प्रक्रिया के साम्प्रदायिकीकरण में ख़ुद शासक दल और राज्य की प्रत्यक्ष भूमिका है। हाल मे बम्बई अहमदाबाद, नई दिल्ली, वाराणसी, अलीगढ़ में घटी घटनाओं से यह साफ हो जाता है कि आतंकवाद को फैलाने, साम्प्रदायिक हिंसा को न सिर्फ भड़काने बल्कि शुरुआत करने, अव्यवस्था व बर्बरता को बढ़ने देने और फिर इस माहौल का इस्तेमाल कर जनसमुदाय के बड़े हिस्से में अंधराष्ट्रवादी भावनाओं को उभारने में सरकार और शासक दल की प्रत्यक्ष भूमिका है। इन सारे दंगों ने अपराधी किस्म के राजनीतिज्ञों की भूमिका को स्पष्ट कर दिया है। विडंबना यह है कि यह सब 'साम्प्रदायिक तत्वों से लड़ने' और राष्ट्रीय एकता व अखंडता बनाये रखने के नाम पर हो रहा है। जब भी किसी समुदाय या क्षेत्र के मामले में राजनीतिक लोग अपनी

कूटनीति का इस्तेमाल करते हैं वह सब राष्ट्रीय एकता के नाम पर ही किया जाता है। मध्यवर्ग के भीतर भय पैदा करने, उसे धमकाने और हतोत्साहित करने, विरोध को ग़ैर–कानूनी करार देने, जनमत की मुख्यधारा को आतंकित करने और प्रेस, न्यायपालिका और बुद्धिजीवी वर्ग का मुँह बंद करने की यह राजनीति पूर्णतः नये क़िस्म की राजनीति है।

'हिन्दू सम्प्रदायवादियों' की तरह ही 'मुस्लिम सम्प्रदायवादी' देश के स्तर पर ही नहीं बल्कि विश्व स्तर पर अपनी पहचान में जुटे हुए हैं। देखा जाए तो 'पिछले साल के एक छोटे से कार्टून ने विश्व में तहलता मचाया हुआ है। एक छोटे से कार्टून ने दुनिया भर के मुसलमानों को उत्तेजित कर दिया। इस कार्टून ने आज भारतीय सार्वजनिक जीवन में नब्बे के दशक से भी ज्यादा जोखिम भरी 'साम्प्रदायिकता' का ख़तरा पैदा कर दिया है। नब्बे के दशक में हुआ साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण इकतरफा था, यानी केवल हिन्दुत्ववादी ताकतें ही अपनी दावेदारी पेश कर रही थीं। पर इस बार साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण हुआ तो बहुसंख्यावादी शक्तियाँ तो उसमें सक्रिय हुई हीं, अल्पसंख्यकवादी शक्तियाँ भी अपना झंडा बुलंद करने लगीं। हिन्दुओं को संगठित करने के लिए जहाँ भाजपा की डबल रथयात्रा होगी, वहीं दूसरी ओर मुस्लिम मानसिकता से ग्रस्त 'मुस्लिम समुदाय' होगा। और होगा इन दोनों के बीच असहाय खड़ा हमारा नागरिक समाज और सार्वजनिक जीवन।

कार्टून की विवादास्पद स्थिति पर नज़र डालें तो, हम देखते हैं कि डेनमार्क के कार्टूनिस्ट ने पैग़म्बर मुहम्मद का दाढ़ी वाला चेहरा बनाया। उसने उन्हें एक ऐसी पगड़ी पहनाई जिसमें बम का फ्यूज लगा दिखता है। उस पलीते की सुतली सुलग रही है, वह किसी भी समय फट सकता है। कार्टूनिस्ट कहना चाहता है कि आतंकवाद और हिंसा मुसलमानों के दिमाग़ में भरी है। उसका पलीता लगातार सुलगता रहता है वह एक स्थायी जोखिम है जो कभी भी फट सकता है। इस तरह कार्टून के ज़रिए मुसलमानों की आतंकवादी के रूप में एक रूढ़ छवि बनती है। मुसलमानों को आपत्ति है 'मुहम्मद पैगम्बर' का ही क्यों इस्तेमाल किया गया? पैगम्बर से ज्यादा बड़ा मुसलमानों का प्रतीक तो कोई नहीं हो सकता। कार्टूनिस्ट चाहता तो किसी भी चर्चित आतंकवादी मुसलमान शख्सियत का सहारा लेकर अपनी बात कह सकता था। वह मुल्ला उमर की मुखाकृति बना सकता था, बिन लादेन का चेहरा बना

सकता था। पर, इन दोनों चेहरो की छवियों से शायद सारे मुसलमानों का प्रतिनिधित्व करने वाली रूढ़ छवि नहीं उभर पाती।

कार्टून छपने के बाद डेनमार्क में इसके ऊपर आपत्ति की गई। जैसे–जैसे आपत्ति का स्वर ऊँचा हुआ, वैसे–वैसे अन्य युरोपीय अखबारों के माध्यम से इस कार्टून का प्रसार होता चला गया। जैसे कि इसके पीछे कोई साम्प्रदायिक ज़िद काम कर रही हो। धीरे–धीरे सारी दुनिया में मुसलमान आन्दोलित होते चले गए। भारत में इसकी पराकाष्ठा उस समय हुई जब मेरठ के हाजी याक़ूब ने कार्टूनिस्ट की हत्या के लिए 51 करोड़ रूपये देने की घोषणा कर डाली। एक छोटे से कार्टून के एवज में यह उन्माद उठना बेबुनियाद ही ठहराया जाएगा। यूरोप में छपे कार्टून पर भारत में उत्तेजित होने की क्या जरूरत है ? और सर काटने पर इनाम रखना तो केवल साम्प्रदायिकता को बढ़ावा देना ही कहा जाएगा।

इस कार्टून के विरोध में दुनिया के अलग–अलग हिस्सों में हुए विरोध प्रदर्शनों में अब तक दर्जनों लोग मारे जा चुके हैं। हिंसा का एक माहौल पैदा हो गया, जिसमें विवेक के लिए कहीं जगह नहीं है। करोड़ों रूपये के इनाम द्वारा केवल साम्प्रदायिक तनाव पैदा किया जा रहा हैं यदि किसी ने कोई अपराध किया है तो उसे सज़ा देने के लिए कानून–व्यवस्था है। उनकी घोषणा एक तरह से भावात्मक उत्तेजना का माध्यम बनी है और इस स्थिति से राजनीतिक लाभ उठाने की गंध आ रही है। इनसे पूछा जाए कि छोटे से कार्टून पर तो कत्ल के फतवे जारी करते हैं, बेरोजगारी, नाइंसाफ़ी, भ्रष्टाचार, तस्करी, माफियागिरी, के खिलाफ फतवे जारी क्यों नहीं करते ?

धार्मिक वर्चस्व के लिए लड़ने वाले आतंकवादी, राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ, लश्करे तैयबा जैसे संगठन और इनके नेतागण खूंखार कट्टरपंथी हैं। इन्हें अपने धार्मिक अनुयायियों के भौतिक जीवन से कोई लेना–देना नहीं है। न तो ये गरीबी, भुखमरी, बेरोज़गारी, अशिक्षा, गैर बराबरी के खिलाफ कुछ बोलते हैं न दलितों, स्त्रियों पर होने वाले अत्याचारों पर। इनकी चिन्ताएँ सिर्फ धर्म और संस्कृति को लेकर है। हर समय संस्कृत के श्लोक गुनने वाले ये आचार्य हजारों–करोड़ों की संपत्तियाँ, मठ–मन्दिरों के भव्य भवनों में बैठे आम लोगों से सांसारिकता त्यागने का आग्रह करते रहते हैं। इनके एकमात्र मुद्दे हैं – फ़िल्मों, किताबों और चित्रों को लेकर आग

लगाना, वैलेंटाइन डे और नव वर्ष के हर्षोललास में हंगामा करना। मुसलमानों के कारण हिन्दू जाति कैसे समाप्त हो जाएगी, इसके भयानक दृश्य दिखाना। बदले में उनसे भी बड़े जिहादी, धर्मोन्मादी और आतंकवादी बनने के आह्वान करना। रथयात्रा आडवानी का पुराना रोग है। वे बम और बंदूकों से नहीं, बल्कि रथ–निकालकर धर्मोन्माद फैलाकर हत्याकांड कराते हैं। रथयात्रा के द्वारा देश में दोबारा जहर घोलने का प्रयास किया जा रहा है। उनकी पहली रथयात्रा का अनुभव समाज अब तक भुगत रहा है बाबरी–मस्जिद को खोकर।

साम्प्रदायिक अलगाव को बढ़ने देना देश के अमन–चैन और भाईचारे पर हमला है। समाज के भीतर जो जाति और मजहब के नाम पर असमानताएँ हैं, उन्हें दूर करने की जरूरत है। मंदिरों और मस्जिदों पर हमले कर साम्प्रदायिक सौहार्द बिगाड़ने का प्रयास कुछ वर्षों से किया जा रहा है। स्वर्ण मंदिर, रघुनाथ मदिर, अक्षरधाम मंदिर, संकटमोचन मंदिर, जामा मस्जिद पर हमला कर आस्था से खेला जा रहा है। इस वक्त फिर भारत की जनता को आपसी भाईचारे व इंसानियत का पैगाम दिखाने की आवश्यकता है ताकि आतंकवादी कार्यवाहियों को राजनीतिक दल राजनीतिक रंग देने की कोशिश न करे।

लहूलुहान इंसान और बौद्धिक समाज की नपुंसकता

साम्प्रदायिकता का स्वरूप अमानवीय होता है। अमानवीय इस अर्थ में कि यह हर तरह से समाज को क्षति पहुँचाती है। साम्प्रदायिकता ने केवल सामाजिक मनोरचना के अन्तर्गत धर्म, संस्कृति, राजनीति, इतिहास चेतना मानवीय मूल्यों को विकृत करती है बल्कि इसके कारण समाज को भारी मात्रा में जान–माल का नुकसान भी उठाना पड़ता है। कहीं किसी अन्य राष्ट्र से युद्ध नहीं होता, कहीं कोई महामारी नहीं फैलती, कहीं भूकम्प नहीं आता, बाढ़ नहीं आती, फिर भी लाखों लोग मारे जाते हैं। धार्मिक विद्वेष में बहकर घरों, दुकानों में आग लगा दी जाती है, लोगों को जिन्दा आग में झोंक दिया जाता है। साम्प्रदायिक दंगों का प्रभाव सबसे पहले मानव और मानव के मध्य रिश्तों को समाप्त कर देता है। एक–दूसरे के प्रति सन्देह और नफरत की भावना पैदा होने लगती है। इस भयंकर उन्माद में तमाम मानवीय भावनाएँ समाप्त

हो जाती हैं और धर्म–निरपेक्ष चरित्र के मनुष्य भी इन स्थितियों के मनोवैज्ञानिक दबाव से एक साम्प्रदायिक मनुष्य में परिवर्तित होने लगते हैं। सामाजिक समूह एक अनियंत्रित हिंसक समूह में बदल जाता है। इस हिंसक स्थिति की परिणति है कि मियाँ जमील जैसे लोग पागल हो जाते हैं। एक मानवीय उदार, सहिष्णु व्यक्ति इस भयंकर स्थिति की परिणति को भुगतता है। मंदिर–मस्जिद के सवाल पर मानव मन की क्षति होती है। तभी तो एक सूफी शायर ने कहा है :

"मस्जिद ढाह दे मन्दिर ढाह दे
ढाह दे जो कुछ ढहदां
पर बंदे दा दिल ना ढाहवीं
रब दिलां विच रहंदा।"[9]

मानव और मानव के मध्य सहज आत्मिक सम्बन्ध को समाप्त कर देना और परस्पर शत्रुता की भावना को विकसित कर देना साम्प्रदायिकता का मुख्य लक्षण है। यह इतिहास, साहित्य, संस्कृति सबको एकांगी बना देती है। सांस्कृतिक धरोहरों, साहित्यिक धरोहरों को यह सम्प्रदाय के आधार पर जोड़कर देखती है। यह बौद्धिकता को अस्वीकार कर जड़वादी आस्था को स्वीकृत करती है और इतिहास को विकृत कर सामाजिक संरचना में विघटन की प्रक्रिया को शुरू कर देती है।

इस अमानवीय स्थिति को मियाँ जमील के माध्यम से गहराई से महसूस किया जा सकता है। यह मानवता के ध्वंस की पराकाष्ठा है। दूधनाथ सिंह की मुख्य चिन्ता अमानवीय स्थितियों को समाप्त कर इंसान और इंसान के मध्य सहज रागात्मक संबंधों के विकास से जुड़ी है। आज की सम्प्रदायवादी, जातिवादी, अवसरवादी स्थिति में मानवीयता का लोप हो चुका है। रह गयी है तो सिर्फ दहशत, डर, आतंक, हिंसा। राही मासूम रजा की भी चिंता है – "बंगाल, पंजाब, उत्तर प्रदेश के इन्कलाबियों की लाशों की कीमत केवल एक शब्द है ... नफ़रत । ... नफ़रत ! शक ! डर ! इन्हीं तीन डोंगियों पर हम नदी पार कर रहे हैं। यही तीन शब्द बोये और काटे जा रहे हैं। तीन शब्द ... तीन राक्षस।"[10]

अतः इस नरमेध में न हिन्दू का कुछ बिगड़ा है, न मुसलमान का। अगर नुकसान हुआ है तो केवल इंसान का और लुट गई है तो केवल मानवता।

इंसान–इंसान के ख़ून का प्यासा बना हुआ है। ये वही इंसान है जो कुछ समय पहले तक एक–दूसरे की भावनाओं को ख़ूब समझते थे। कभी नहीं देखा गया कि अयोध्या के लोग साम्प्रदायिक विवाद में फंसे हों – "फ़ैजाबाद अवध नवाबों की राजधानी और अयोध्या हिन्दू संस्कृति की प्रतीक दोनों ने एक–दूसरे की मर्यादाओं की रक्षा की और दैनिक कार्य व्यापार में कभी कोई अतिक्रमण होता हुआ नहीं दिखा। वोट की राजनीति ने सबके चूल्हे चौके फिर बाँट दिये।"[11]

बाबरी विध्वंस के साथ ही लहूलुहान इंसान की तस्वीर शक्ल लेने लगती है। मानवीयता और इंसान की सहृदयता को दरकिनार करती यह साम्प्रदायिकता अपनी क्रूरतम स्थिति में पहुँच चुकी है। जिसमें विध्वंस के साथ ही लाखों करोड़ों लोगों को मौत के घाट उतार दिया गया। मुस्लिम बस्तियों पर हमले किए गए। उन्हें घर से बेदख़ल कर दिया। विस्थापित ज़िन्दगी जीने को मजबूर किया गया। इस तरह अल्पसँख्यक समूह के भीतर दहशत, डर, आतंक और हिंसा का साम्राज्य स्थापित हो गया। साम्प्रदायिकता के क्रूर हिंसक और संवेदनहीन परिवेश में नष्ट होती मानवीयता का सशक्त चित्रण 'आख़िरी कलाम' में अपनी पूरी वेदना के साथ उपस्थित है।

'आख़िरी कलाम' का मूल स्वर भी साम्प्रदायिकता के विद्वेष में नष्ट हो रही मानवीय संवेदनाओं की चिन्ता से जुड़ा हुआ है। व्यक्ति–व्यक्ति के बीच एक गहरी खाई बिछ गई है जिसे पाटना ज्यादा मुश्किल ही नहीं बाबरी विध्वंस के बाद नामुमकिन भी प्रतीत होता है। अब यह स्थिति हो गई है कि हक़, कानून, इंसाफ, धर्म, प्यार, जिन्दगी जैसे शब्द बिल्कुल धुंधले हो गए हैं। इनकी जगह डर का एक नया तजूरबा जन्म ले रहा है, जिसने हमारी चेतना, समझ, ज्ञान को बिल्कुल ढँक लिया है। धर्म जो कि अपने उदयकाल में प्रगतिशील था आज साम्प्रदायिक शक्तियों के हाथ का खिलौना बन कर किस तरह से मानवता विरोधी एवम् अमानवीय हो गया है, 'आख़िरी कलाम' में मौजूद है। इसके इस रूप ने लाखों लोगों को मौत के घाट उतार दिया, "धर्म का पॉजिटिव रोल तो एक सपना ही बना रहा ... धुन्ध में लिपटा हुआ ... लेकिन निगेटिव पक्ष ने धरती पर मासूम इन्सानों का इतना खून बहाया है कि किसी भी पत्थर दिल के डर से रोंगटे खड़े हो जाएँ। इसका निगेटिव पक्ष वह अन्धी साम्प्रदायिकता है जो अपने झण्डे को बुलन्द करने की हविश में लाखों का अम्बार लगा देने में ज़रा भी संकोच नहीं करती ...।"[12]

साम्प्रदायिक उन्माद में मनुष्य की संवेदनाएँ समाप्त हो जाती हैं, वह हृदयहीन और अमानवीय हो जाता है, यही साम्प्रदायिकता की अमानवीय स्थिति समाज के लिए खतरनाक होती है। इसी अमानवीय स्थिति की बदौलत लुटे हुए बदहाल, आतंकित और पीड़ित लोगों का हरेक चीज़ पर से विश्वास उठ गया है वे लोग किसी पर विश्वास नहीं करना चाहते। इसी अमानवीयता ने पारिवारिकता, प्रेम सब को समाप्त कर दिया है। मानव और मानव के मध्य सहज मानवीय प्रेम–संबंध टूट रहे हैं। वस्तुतः साम्प्रदायिकता ऐसी स्थिति पैदा कर देती है कि व्यक्ति भावनात्मक रूप से जड़ हो जाता है। उसकी रागात्मकता अन्यों के प्रति समाप्त हो जाती है।

समस्त रागात्मक भावनात्मक संबंधों का टूट जाना साम्प्रदायिक विद्वेष, साम्प्रदायिक हिंसा की एक ऐसी विशेषता है जिसके कारण पूरा समाज मानो एक आदिम बर्बर युग में बदल जाता है, जहाँ मानवीयता नहीं होती, प्रेम नहीं होता, सौहार्द्र नहीं होता, समुदाय एक दूसरे के खून के प्यासे बर्बर गिरोहों में परिवर्तित हो जाते हैं। वे मानवीयता की कोमल भावना को विनष्ट कर उसकी जगह खून, तबाही और विध्वंस के साम्राज्य की स्थापना कर देते हैं।

अल्पसंख्यकों के मन में धार्मिक अस्मिता के प्रति अत्यधिक पक्षधरता, धार्मिक अहम् की कुंठा, दूसरे दर्जे के नागरिक समझे जाने का अपमान बोध, सामाजिक सुरक्षा की भावना किस तरह से एक सामूहिक मनोग्रन्थि का रूप धारण कर चुकी है देखा जा सकता है। इसका बेहद मार्मिक और यथार्थपरक विश्लेषण 'आख़िरी कलाम' के मियाँ जमील और अन्य पांच मुस्लिम बुड्ढों के रूप में हुआ है।

"बजरंग दल के लोग अब खुले आम धमकी देते घूमते हैं कि बाबरी मस्जिद गिराए जाने की आलोचना करने वालों को पाकिस्तान जाना होगा। दूसरी ओर पूर्वी दिल्ली की कर्फ्यू ग्रस्त मुस्लिम बस्ती सीलमपुर में पुलिस ने कुछ क्षेत्रों में तो सारे मुसलमानों को पकड़ लिया और तब तक पीटा जब तक वे जयश्रीराम के नारे लगाने को तैयार नहीं हो गए। यहाँ तक कि एक भद्र मुसलमान की दाढ़ी तक नोंच ली गई।"[13] यह है अल्पसंख्यक वर्ग की अमानवीय स्थिति जो किसी को भी भयभीत कर सकती है।

इस प्रकार साम्प्रदायिकता का ज़हर पूरे समाज को विषैला, असह्य और अमानवीय बना देता है। जिसमें जीवित सिर्फ पाशविकता रहती है, जीवित सिर्फ राजनीति और धर्म रहता है, परन्तु इंसान, इंसान मर चुका होता है। साम्प्रदायिकता के हाथों तबाह होती हुई मानवीयता चेतावनी देती-सी प्रतीत होती है कि यदि मानवीयता को जीवित रखना है, इंसान को जीवित रखना है तो फिर साम्प्रदायिकता के दैत्य को मारना होगा और उसके दाँतों में दबी हुई इंसानियत को पुनः उसकी जमीन, उसकी ऊर्जा, उसकी जीवंतता वापस करनी होगी।

'आख़िरी कलाम' साम्प्रदायिकता के दुष्परिणाम को झेलता प्रतीत होता है। बाबरी मस्जिद विध्वंस से भारतीय समाज को अनेक मानवीय समस्याओं को झेलना पड़ा। दोनों सम्प्रदायों के मध्य पनपने वाला अविश्वास विध्वंस के बाद हुए साम्प्रदायिक दंगे, निरपराध मनुष्यों का रक्तपात, संबंधों के टूटने की पीड़ा, अपनी भूमि से उजड़ने और उखड़ने की वेदना, विस्थापित के रूप में बसने की वेदना 'आख़िरी कलाम' में मौजूद है।

बौद्धिक समाज की नपुंसकता

देश की पहचान शायद शासक–वर्ग से उतनी नहीं बनती, जितनी उसके चिंतकों, दार्शनिकों, साहित्यकारों और बुद्धिजीवियो से बनती है। यही तो है समाज के जागरूक पहरेदार, जो देश और समाज की पहरेदारी करते हैं, सांप्रदायिक शक्तियों से। व्यक्ति का समाज से साक्षात्कार कराते हैं। आम जनमानस को देश के प्रति अहम् भूमिका निभाना सिखाते हैं।

राजनीति में बैठे लोग अपने नज़रिये से चलते हैं लेकिन रचनाकर्मी लोग अपने सृजन, चिन्तन से देश और समाज का पथ प्रदर्शन करते हैं। समूचे राष्ट्र की वाणी बनकर बुद्धिजीवी उसका जयघोष करने के साथ–साथ सांस्कृतिक चेतना और जीवन मूल्यों से देश की एकता और अखण्डता की रक्षा भी करते हैं। देश को सबसे ज्यादा जरूरत उन बुद्धिजीवियों की है जो संकट के क्षणों मे अलगाववाद, भाषावाद, प्रान्तवाद, जातिवाद, साम्प्रदायिक संकीर्णताओं में फंसे जन–जन को खतरे से उबार

सकें। परन्तु देखने में आ रहा है कि बुद्धिजीवी अपने इन आदर्शों की अवहेलना करने लगे हैं बल्कि लगता है कि इनसे वे कोसों दूर हैं।

समाज में अपने दलगत, क्षेत्रीय और प्रांतीय आधारों पर अपने को बाँटने लगे हैं बल्कि देश की समस्याओं से विमुख बने हुए हैं। 'आख़िरी कलाम' बुद्धिजीवियों की सोई हुई मानसिकता को जगाने का प्रयास करते हुए उनके कर्मक्षेत्र में आई हुई कमियों को दर्शाता है। यही वजह है कि 'दूधनाथ सिंह' ने 'आख़िरी कलाम' में निम्न वर्ग को नज़रअंदाज़ किया है और बौद्धिक समाज की नपुंसक कार्यशैली पर टिप्पणी की है।

दूधनाथ सिंह ने एक रचनाकार के नाते बुद्धिजीवी वर्ग को उसके आदर्शों और सिद्धान्तों की याद दिलायी है। वे समय, समाज, इतिहास, तथ्य, सभी का हवाला देकर बौद्धिक समाज से बहस करते दिखाई देते हैं। बौद्धिक समाज की सोयी हुई मानसिकता को जगाना चाहते हैं। बौद्धिक वर्ग की नपुंसकता ही है कि 'बाबरी–मस्जिद' को धराशायी कर दिया गया। प्रतीत होता है कि देश के कर्णधारों ने देश के संविधान की शपथ लेकर संसद में झूठ बोला। भारतीयता की धरोहर 'बाबरी–मस्जिद' को तोड़ डाला गया। उसकी हिफाज़त, रखवाली का दम भरने वालों ने उसका बचाव करने की क़तई कोशिश नहीं की। समूचा देश, इसकी संसद, इसकी अदालत को दिया वचन तोड़ दिया कि हम भारतीय धरोहरों की रक्षा करेंगे, देश और समाज में व्यवस्था क़ायम करेंगे।

आज यह बात सब जानते हैं कि महीनों 'बाबरी–मस्जिद' को ढहाने की तैयारी चलती रही। रथयात्रा निकाली गई, हिन्दू साम्प्रदायवादियों को इकट्ठा किया गया, बाकायदा मस्जिद तोड़ने के लिए ट्रेनिंग दी जाती रही। और यह सब चलता रहा देश, संसद और नेताओं की आँखों के सामने। बुद्धिजीवी वर्ग चारों ओर से आँख मूंदे रहा। जब कानून, समाज, देश के ये कर्णधार स्वयं दंगाईयों का साथ देते रहे, उनका पोषण करते रहे, उन्हें पालते रहे तो परिणति क्या होती ? वही हुआ जो होना था। 'बाबरी मस्जिद' तोड़ी जाती रही और बुद्धिजीवी समाज उससे बेख़बर बना रहा। जब उनसे इस कुकृत्य के बारे में पूछा गया, जब उन्हें देशवासियों की धिक्कार और अपमान का सामना करना पड़ा तो सारा दोष उन्होंने कारसेवकों पर मढ़ कर अपने

आपको साफ बचा लिया। जबकि उन्हें 'बाबरी–मस्जिद' को बचाने की पूरी कोशिश करनी चाहिए थी। सरकार को तत्काल प्रशासनिक तौर पर सक्रिय हो जाना चाहिए था। देखा जाए तो न्याय के नाम पर उन्होंने सदैव हिन्दुत्ववादियों का साथ दिया। उन्हीं का पक्ष लेते हुए उन्हें ही संरक्षण दिया। दूसरी तरफ अल्पसंख्यक वर्ग को नज़रअंदाज किया गया और उन पर अमानुषिक अत्याचार किए गए। संरक्षण तो दूर उनके ख़िलाफ कार्यवाहियाँ की गईं। यह है समाज के बौद्धिक कहलाये जाने वाले समाज का घिनौना और पक्षपातपूर्ण चेहरा। जिसे 'आख़िरी कलाम' के ज़रिए 'दूधनाथ सिंह' ने समाज के सामने प्रस्तुत किया है।

दूधनाथ सिंह ने खुले तौर पर इस बुद्धिजीवी समाज को उघाड़कर रख दिया है। सारा बुद्धिजीवी वर्ग जातिवादी मानसिकता से ग्रस्त देश समाज की स्थिति–परिस्थितियों से मूक बना बैठा है। देश और समाज का सामना करने की शक्ति उनमें नहीं है। उनमें ऊर्जा है केवल बौद्धिक बहस करने की या फिर समाज में जो हो रहा है उसे नज़रअंदाज करने की। वे केवल भाषण देने, वक्तव्य देने और अपना बचाव करने में लगे हुए विवेकशून्य वर्ग के रूप मे उपस्थित हैं। स्थिति तब और भयंकर रूप में सामने आती है जब इन शक्तियों का साथ साम्प्रदायिक तत्वों के साथ हो जो देश को तबाह करने पर तुले हुए हैं। ये समाज की स्थिति से अनजान, अनभिज्ञ बने केवल टी.वी. के सामने, गोष्ठियों में अपनी व्याख्या देने भर को ही अपना कर्त्तव्य समझते हैं। सारी स्थिति–परिस्थितियों के प्रति आँख मूंदना केवल उनकी मौन स्वीकृति और विवेकशून्यता को ही दर्शाता है। अतः उनसे पूछा जाए कि, "जब इस देश का नेतृत्व धर्म के नाम पर वोटों का बँटवारा कर रहा था, तब हमने क्या किया ? जीवन को उच्चता के सोपान देने वाला धर्म जब राजनीति के मोहरे की तरह काम में लाया जा रहा था, तब हम क्या कर रहे थे ? और आज भी जब हिन्दू और मुसलमान के नाम पर समाज को बाँटे रखने की साज़िश चल रही है, तो हम क्या कर रहे हैं ? हम कुछ नहीं कर रहे, इसीलिए हम राष्ट्र–विरोधी हैं, और वे जो धर्म को राजनीतिक स्वार्थों की पूर्ति का माध्यम बनाकर समाज को बाँट रहे है।, वे भी राष्ट्र विरोधी हैं।"[14] दूधनाथ सिंह ने बौद्धिक वर्ग के इस छल रूप को उद्‌घाटित करके रख दिया है। उनकी पक्षपातपूर्ण नीति के प्रति वे रोष व्यक्त करते हैं।

'आख़िरी कलाम' में तत्सत पांडेय ऐसे व्यक्ति के रूप में उपस्थित हैं जो बौद्धिक वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हुए समाज को सही दिशा में ले जाने का प्रयास करते हैं। 'तत्सत पांडेय' आधुनिक प्रवृत्ति से लैस दृढ़ व्यक्ति के रूप में 'अयोध्या के इस गदर' के खिलाफ 'प्रोटेस्ट मार्च' का आह्वान करते हैं। उनका सीधा प्रश्न है, "जो इस बर्बरता को रोक नहीं सकते, उन्होंने जनता पर से अपना नैतिक दावा उठा लिया है।"[15] साम्प्रदायिक, अवसरवादी राजनीतिक जमात पर यह टिप्पणी उनकी 'अयोध्या के इस गदर' में साम्प्रदायिक लोगों के प्रति मौन सहमति को उजागर करती है। सभी राजनीतिज्ञों ने जनता पर से अपना दावा खो दिया है। तभी तो स्थिति कष्टपूर्ण और हानिकारक बनी हुई है।

राजसत्ता में ऐसे बौद्धिक लोगों का वर्चस्व है जो स्थिति पर वक्तव्य देने भर को ही अपना कर्तव्य समझते हैं। "जो होना है उसे होने दो, हम इतिहास लिखेंगे, व्याख्याएँ करेंगे और निर्णय देंगे।"[16]

यह वक्तव्य उनके झूठे और मनमाने चरित्र के सच को पर्दे से बाहर लाता है। देश और समाज की स्थिति से उन्हें कुछ लेना देना नहीं है। परिस्थितियाँ और भयानक हो जाती हैं, जब राजसत्ता का प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष समर्थन इन शक्तियों के साथ हो। बौद्धिक समाज की मूक दर्शकता और साम्प्रदायिक लोगों को समर्थन देने का ही परिणाम है 'बाबरी–मस्जिद का विध्वंस'। बौद्धिक समाज हाथ पर हाथ धरे बैठा रहा और बाबरी मस्जिद तोड़ी जाती रही। प्रशासन ने 'बाबरी–मस्जिद' को बचाने की कोई कोशिश नहीं की। स्थिति को काबू करने के लिए कोई कार्यवाही नहीं की गई। इस तरह बौद्धिक वर्ग का सुन्न और नपुंसक चेहरा ही हमारे सामने उभरता है।

जातिवाद का घिनौना व्यापार

आज समाज को जिन बुराईयों ने घेरा हुआ है उनमें 'जातिवाद' का गहरा हाथ है। पूरा समाज ही इस घिनौनी सामाजिक बुराई की चपेट में आ गया है। समाज में कोई भी ऐसा वर्ग नहीं है जिसने 'जातिवाद' का सहारा न लिया हो। सभी क्षेत्रों – सामाजिक क्षेत्र, राजनीतिक क्षेत्र, प्रशासनिक क्षेत्र, धार्मिक क्षेत्र – में 'जातिगत' आधार ही प्रमुख बना हुआ है।

'आख़िरी कलाम' इन सभी संस्थाओं – वर्गों के जातिवादी आधार को उघाड़ने का प्रयास ही नहीं करता बल्कि उनसे बचाव भी चाहता है। प्रत्येक वर्ग के जातिवादी चेहरे से 'दूधनाथ सिंह' को घिन्न है। समाज को इस बुराई से बचाने का आह्वान करते हुए वे समाज के एकजुट होने पर बल देते हैं। वही ब्राह्मण समाज की विकृतियों पर उंगली उठाते चलते है। इस 'जाति व्यवस्था' को बुद्धिजीवी के नाते तोड़ने पर 'दूधनाथ सिंह' बल देते हैं। देखा जाए तो बरसों से चली आती जातिवादी परम्परा को 'दूधनाथ सिंह' ने तोड़ने का प्रयास किया है। जातिवाद अपने आपमें भयंकर स्थितियाँ पैदा करती चलती है जो हमें क्रूर सम्प्रदायवाद, उग्र फासीवाद की ओर ले जाती है।

'जातिवाद' भारत की एकता, सामाजिक सुधार, सांस्कृतिक बहुलतावाद, उदारवादी सोच इन सभी के लिए ख़तरनाक है। समाज में पिछड़ेपन, जाति घृणा एवं भ्रष्टाचार को प्रश्रय देने वाला कभी भी धर्म–निरपेक्षता की रक्षा नहीं कर सकता। ऐसा समाज जो जातिवादी शक्तियों को बढ़ावा देगा उनके लिए सामाजिक समन्वय की बातें कोई मायने नहीं रखती। देखा जाए तो "हमने अपने छोटे–छोटे भारत बना लिए, भाषाओं में बँटे हुए भारत, जातियों में बंटे हुए भारत, सम्प्रदायों में बँटे हुए भारत। भारतीयता हमारी पहचान नहीं रही। हिन्दू, मुसलमान, सिख या बौद्ध होना हमारी पहचान बन गई ... रुग्ण मानसिकता वाले सपने हमारे 'अपने–अपने भारत' की सीमाएँ बन गए। अपने ही घावों के दर्द का एहसास भी नहीं होता हमें। एक नशे में जी रहे हैं हम।"[17]

जातिवाद की कुत्सित भावनाओं ने सामाजिक विषमता को जन्म दिया। हिन्दू मुसलमान का भेद तो रहा ही एक ही धर्म के अनुयायियों के बीच भी सामाजिक विषमता का लज्जित रूप देखने को मिलता रहा और आज यह अपने भयंकर रूप में हमारे सामने है। राजनैतिक लाभ की संभावना ने जाति को नया जीवनदान दिया है। पिछड़ा होना अब फायदे का शगल है और सभी जातियाँ इस हैसियत को पाने की होड़ में लगी हैं। देश में इस समय उच्च शिक्षा संस्थानों में ओ.बी.सी. वर्ग को 27 प्रतिशत आरक्षण देने, न देने के समर्थन और विरोधी स्वरूप को देखा जा सकता है। अब हर जाति वर्ग के अंदर आर्थिक और सामाजिक गैर–बराबरी मौजूद है। देखा

जाए तो सभी जाति के लोग अपने–अपने जातीय संगठन को मजबूत कर रहे हैं। रोज जातीय महासम्मेलन हो रहे हैं जातियों का गठबंधन बनाकर सरकार पर कब्जा करना, मंत्री बनाना, विधायक, सांसद बनने का सिलसिला बन गया है। लेकिन जाति के सासंद, विधायक, मंत्री होने पर भी उस जाति की हालत जैसी की तैसी रह जाती है। "राजनीति में देख यह जा रहा है कि लोग जाति–व्यवस्था के खिलाफ नहीं लड़ रहे हैं, बल्कि जातिवादी बन रहे हैं। खासकर मण्डल के बाद भारत में पॉलिटिकल सिस्टम नहीं है, कास्ट सिस्टम है। पार्टियाँ सत्ता में नहीं आ रही हैं, बल्कि जातियाँ सत्ता मे आ रही हैं। जातियों ने राजनीतिक पार्टियों को रिप्लेस कर दिया है। काशीराम ने कहा कि अपनी–अपनी जातियों को मजबूत करें।"[18]

जातीय संगठन जाति सुधार तथा साक्षरता, कन्या शिक्षा, महिला उत्थान आदि के काम नहीं करते। जाति की ग़रीबी दूर करना और पिछड़ापन दूर करना तो और दूर की बात है। जाति का सांसद, विधायक, मंत्री होना ही सबसे ज़रूरी काम बन गया है। अतः "मनुष्य तेजी से हिन्दू–मुसलमान–ईसाई–सिख, ब्राह्मण–राजपूत कुर्मी–यादव–दलित और स्थानीय जातीय पहचानों में परिसीमित होने लगे। पहले समाज के लिए राजनीति एक साधन थी, अब समाज राजनीति का साधन बन गया है। फलतः धर्म, जाति, क्षेत्रीय, जातीयता तथा अतीत के दूसरे अंतर्विरोधें के राजनीतिकरण की प्रक्रिया में 'राजनैतिक समाज' का जंगल उग आया है, जो एक तरह से मनुष्य का विघटन है।"[19]

'बाबरी–मस्जिद' का विध्वंस और उसके बाद देशभर में भड़के दंगे 'जातिवादी' तिकड़म को तार–तार करते हैं। सामाजिक एकता, उदारवादी सोच, समन्वयकारी नीतियाँ आदि को दरकिनार करते हुए सम्पूर्ण देश 'जातिवादी' बन गया है। जातिवादी वर्गों की चरम घिनौनी स्थिति ने ही 'बाबरी–मस्जिद' को मटियामेट कर दिया। जाति और धर्म के नाम पर लोगों के इन संस्कारों को उकसाका राजनीतिक वर्ग अपना उल्लू सीधा करता रहा। और आज भी यह सिलसिला जारी है। राजनीतिक पार्टियों ने 'जातिगत' आधार पर अपना अस्तित्व कायम किया है। कह सकते हैं कि "जिस देश में 'राष्ट्र' ठीक से बना न हो, जहाँ आज भी लोगों की आस्थाएँ, निष्ठाएँ अपने क्षेत्र से हों, अपनी जाति से हों, अपने धर्म से हों क्या उस देश को कहा जाएगा कि

वह पूरी तरह 'राज्य' बन गया है ? ऐसे देश में आप रह रहे हैं ...।"[20] यही वह घिनौनी नीति है जिसके चलते 'बाबरी–मस्जिद' को धर्म और जाति के आधार पर तोड़ दिया गया। बल्कि हिन्दू जाति और मुस्लिम जाति के आधार पर समाज को आँका गया। सम्पूर्ण उत्तर प्रदेश जातिवादी शक्तियों का सरगना बना हुआ है। राजनीतिकों की चाल को गहरे स्तर पर समझे तो वे राम और अयोध्या को लेकर ऐसे ही आग्रह गढ़ने की चेष्टा में लगे हैं यानी इलाके, पंथ, जाति, लिंग, वर्ण की व्यापकता विभिन्नताओं में से निकलकर उभरने वाला एक अकेला सर्वोच्च देवता और तीर्थयात्रा स्थल। बुनियादी मसला है ऐतिहासिक तथ्यों को लाँघते हुए करोड़ों हिन्दुओं की उस आस्था को उछालने का और बर्बरतापूर्ण विध्वंस, हत्या और राजनीतिक सत्ता हड़पने का प्रत्यक्ष खेल। जिसे आम इंसान नहीं समझ सकता। राजनीतिक सत्ता की यह छल नीति किसी से छिपी नहीं है। अतः "भारत में मनुष्य मर चुका है, जीवित है केवल बंगाली, पंजाबी, मद्रासी, राजस्थानी या फिर हिन्दू, मुसलमान, सिख या कायस्थ, भूमिहार, ब्राह्मण, ठाकुर, वैश्य और हरिजन आदि। हमारे राजनैतिक नेता एक ओर जहाँ भारतीय एकता का स्वर अलापते नहीं थकते वहीं दूसरी ओर वे ही अपने दलगत स्वार्थों के कारण मनुष्य को घरौंदों में बाँटने में भी एक–दूसरे से होड़ ले रहे हैं।"[21]

इन्हीं सब दलगत नीतियों के ख़िलाफ 'आख़िरी कलाम' अपनी पक्षधरता दर्ज कराता है। दूधनाथ सिंह मनुष्य के जातिगत आधार को तवज्जो नहीं देते बल्कि ब्राह्मणवादी मानसिकता की घिनौनी नीति को भी संकीर्ण और तुच्छ मानते हैं। प्रत्येक मनुष्य के 'जातिगत' आधार व्यक्तिगत स्तर तक ही हो न की 'सामाजिक स्तर' पर आकर राजनीति में शामिल हों। इस प्रकार देखा जाए तो हिन्दुओं ने जात–पाँत और धर्म की रक्षा की कोशिश में जाति और देश को बरबाद करने में कोई कसर नहीं छोड़ी है। 'तत्सत पांडेय' बौद्धिक वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हुए ब्राह्मणवादी शक्तियों से देश का बचाव चाहते हैं। वे हिन्दू–मुस्लिम में भेद न करते हुए प्रेम, सौहार्द, समन्वय, भाईचारे की पक्षधरता करते हैं।

उपभोक्तावाद का फैलाव

आज के समय में उपभोक्तावाद का फैलाव या वर्चस्व कहाँ तक पहुँच गया है यह 'आख़िरी कलाम' के जरिए देखा जा सकता है। व्यक्ति के संबंधों से लेकर, उसकी जीवनशैली, रहन–सहन, धार्मिक प्रक्रियाओं तक में उपभोक्तावाद यानी बाजारवाद की पहुँच है। बाज़ारवाद ने सामान्य मनुष्य के सामने एक चमत्कारी आँखें चौंधिया देने वाली स्थिति उत्पन्न कर दी है। आम मनुष्य उसकी छल नीति की पकड़ में आ गया है। उपभोक्तावाद को लोगों की संवेदनाओं, भावनाओं से कुछ लेना–देना नहीं है। वह केवल और केवल अपना लाभ चाहता है। इसके लिए वह झूठ और फ़रेब का सहारा लेने को तैयार रहता है। वह देखता है कि फायदा कब और किसके द्वारा हो रहा है और वह उसी चीज़ या स्थिति का सहारा लेने लगता है और लाभ उगाहता रहता है।

'आख़िरी कलाम' उपभोक्तावाद के छल और छद्म रूप को उद्घाटित करने का प्रयास करता है। किस तरह उत्तेजित और बौखलाए हुए माहौल में भी व्यापारिक वर्ग विज्ञापनों द्वारा लाभ कमाने की सोचते हैं। उन पर उत्तेजित स्थितियों का कुछ भी असर नहीं होता। वे ऐसे वातावरण में भी विज्ञापनों की भरमार लगाए रखते हैं और आम इंसान को आकर्षित करके उससे लाभ उठाते हैं। विपरीत स्थितियों को भी उन्हें अपने हक में करना आता है।

उपभोक्तावाद के सकारात्मक रूप ने जहाँ समाज को आगे बढ़ाने में मदद की है वहीं देश को तरक़्क़ी और प्रगति के रास्ते पर भी बढ़ाया है। देश –विदेश की समस्याओं से रू–ब–रू कराते हुए, संचार माध्यमों की सहायता से व्यक्ति–व्यक्ति को निकट लाने का प्रयास किया है। इसने मनुष्य को विवेकशील बनाया और उसे निष्पक्ष फैसला करना सिखाया, सच की शक्ति पहचानने की ताकत दी है। इसके नकारात्मक रूप ने भाई–भाई को एक–दूसरे से अलग कर दिया। समाज को कई हिस्सों में बाँट दिया। व्यक्ति को उत्तेजित करने पर आमादा आज की मीडिया ने बाबरी–विध्वंस से भी गहरी पीड़ा समाज को प्रदान की है। मनुष्य को अपनी छल नीति का मोहरा बनाकर गहरे जाल में फँसाया है। राजनीतिक लोगों की वाह–वाही की है। इसने अपने छल रूप के जरिए समाज को पतनशीलता के गर्त में डाल दिया है।

उपभोक्तावाद का यह रूप हानिकारक ही नहीं, एक ख़तरे को भी जन्म देता है, जिससे समाज दिशाहीन होता जा रहा है। इसने बाबरी–मस्जिद के विध्वंस के समय भी हानिकारक भूमिका अदा की जिसका फल हम आज तक भुगत रहे हैं।

उपभोक्तावाद की इसी भूमिका को लेकर जन–साधारण की सोच काफ़ी हद तक नकारात्मक है। उसकी धारणा है कि चैनल ऐसी ख़बरों को ज़्यादा महत्व देते हैं जो सामाजिक दृष्टिकोण से अहितकर होती हैं। आर्थिक उदारवाद और भूमंडलीकरण के दौर में जिस बाज़ारवाद का प्रभुत्व मीडिया पर कायम हुआ है उससे ये धारणा और पक्की हुई है। सेक्स, सनसनी और सिनेमा का एक भद्दा मिश्रण हमें नियमित रूप से देखने को मिल रहा है।

इन दिनों दिल्ली में अवैध निर्माण हटाने का अभियान जोर पकड़े हुए है। सम्पूर्ण दिल्ली में अवैध निर्माण बहुतायत में है इसलिए हाईकोर्ट इन्हें हटाना चाहता है। पैसे वाले लोगों ने ज्यादातर अवैध निर्माण किया हुआ है। शॉपिंग मॉल बनाए हुए हैं और भव्य शोरूम खड़े किए हुए हैं। अब जबकि इनके टूटने पर ये लोग हाय–तौबा मचाए हुए हैं तो मीडिया भी उनके साथ खड़ा है। मीडिया इस अभियान के विरोध की तस्वीर बार–बार टी.वी. और समाचार पत्रों में दिखा रहा है। उसने कतई यह प्रयास नहीं किया कि इस अभियान के समर्थन में जो लोग हैं, उनके बयान, उनकी तस्वीरें वह समाज के सामने लाए। मीडिया एकतरफ़ा तस्वीर ही दिखा रहा है जो पक्षपातपूर्ण है। माना तो यह जाता था कि मीडिया का काम लाखों, दबे–कुचले लोगों की आवाज़ को सामने लाना है। पर एक सामाजिक यथार्थ के रूप में मीडिया राजनीतिक पहुंच वाले लोगों के हाथों में खिलौना भर है।

वहीं दूसरी तरफ उच्च शिक्षा–संस्थानों में ओ.बी.सी. को 27 प्रतिशत आरक्षण देने को होने वाला विरोध लगातार बढ़ रहा है। पर मीडिया इसकी भी एकतरफा विरोधी तस्वीर को ही सामने ला रहा है। आरक्षणवादी विरोध को तवज्जो दी जा रही है – विवाद, हिंसा, अराजकता, हड़ताल करते डॉक्टर, खून से बैनर रँगते छात्र, लाठी चार्ज करती पुलिस, बुरी तरह पिटते छात्र और छात्राएँ आदि दिखाए जा रहे हैं। हालाँकि इस बात पर राष्ट्रीय आम राय है कि इक्कीसवीं सदी मे जातिवादी भेदभाव के लिए कोई जगह नहीं है इसके बावजूद अब इसे हटाने के लिए क़दम

उठाए जा रहे हैं तो मीडिया पक्ष ले रहा है। तरह–तरह की ग़लत धारणाओं के बीच बिना स्पष्ट जानकारी के जनता मीडिया के षड्यंत्र का शिकार हो रही है।

अतः देखा जाए तो उपभोक्तावाद का फैलाव अब हमारे सामाजिक जीवन के साथ–साथ आंतरिक जीवन में भी प्रवेश कर गया है। यह समस्त इच्छाओं, कामनाओं, सपनों, निर्णयों का प्रेरक हो गया है। घर के अंदर आने वाले टूथपेस्ट से लेकर शैम्पू तक को हमारा मीडिया तंत्र निर्धारित कर रहा है। टी.वी. पर खाना–ख़जाना के द्वारा खाना बनाने की विधियाँ मशहूर शेफ 'संजीव कपूर' सिखा रहे हैं तो तोंद पिचकाने का सरल उपाय टेलीब्राण्ड मशीन को बताया जा रहा है। वहीं रामदेव महाराज कपालभाती क्रिया का प्रदर्शन भयंकर फूं–फूं के साथ कर रहे हैं तो कहीं अपनी सुडौल देह के साथ मल्लिका शेहरावत विज्ञापनों में दिख रही हैं। 'क्योंकि सास भी कभी बहू थी' की तुलसी की लेटेस्ट मॉडल साड़ी अब गृहणियों की पहली पसंद बनी हुई है। इन सब घटनाओं पर गौर करें तो मीडिया और उपभोक्तावाद में एक जीवंत संबंध दिखाई पड़ता है। चैनलों के आइकॉन हमारी जिन्दगी के आइडिल बनने लगे हैं।

रामशिला पूजन के समय भी अख़बारों ने साम्प्रदायिकता को बढ़ावा ही दिया था। तात्कालिक समय में त्रिशूल, भगवाकरण और जयश्रीराम–जयश्रीराम के जोर–शोर को टी.वी. और समाचार–पत्रों में तवज्जो दी गई। मनुष्य की विवेक शक्ति को रौंदा ही नहीं जा रहा था बल्कि उसे सोचने का मौका भी नहीं दिया जा रहा था, लगातार और रफ्तार से जयश्रीराम– जयश्रीराम के शोर द्वारा साम्प्रदायिक शक्तियाँ अपने स्वार्थपूर्ण हितों के लिए जमीन तैयार कर रही थीं। इस सबमें महत्वपूर्ण भूमिका निभाई समाचार पत्रों की ग़लत रिर्पोटिंग ने, संघ परिवार की रथयात्रा ने और इलैक्ट्रोनिक मीडिया द्वारा ग़लत प्रसारण ने रथयात्रा से जुड़े कार्यकर्त्ताओं को 'रामसेवकों' का दर्जा दिया जा रहा था। रथयात्रा के दौरान उसके मार्ग में पड़ने वाले शहरों, गाँवों और क़स्बों में ज़बर्दस्त दंगे भड़के, जिसमें सैकड़ों लोग मारे गए, मुसलमानों के घर और दुकानें जलाई गईं। इन दंगों का शिकार सब जगह मुसलमानों को होना पड़ा। समाचार–पत्रों ने केवल रथयात्रा की वाहवाही की और अल्पसंख्यक वर्ग की अमानवीय होती स्थितियों से आँखें मूंद ली। इस तरह की रिर्पोटिंग ने समाज

के इस हिस्से में व्याप्त भय, डर, आतंक, दहशत को नज़रअंदाज किया और रथयात्रा से जुड़े लोगों की वाह–वाही की यह नीति पक्षपातपूर्ण कही जाएगी। मुसलमान जहाँ डर, दहशत में जीने को मजबूर थे या घरों में दुबके पड़े थे या फिर पलायन कर रहे थे। क्या समाज की ये तस्वीरें रिर्पोटिंग का विषय नहीं थीं ? समाज की एकतरफा तस्वीर उन्होंने पेश की और दूसरे हिस्से को अनदेखा किया। क्या समाज की सही तस्वीर पेश करना उनका कर्त्तव्य नहीं था। समाज के एक हिस्से पर ध्यान केन्द्रित करना और दूसरे हिस्से की उपेक्षा करना कहाँ तक सही कहा जाएगा ?

एक तरफ पढ़े–लिखे वर्ग को सच्चाई से रू–ब–रू नहीं कराया जा रहा था तो दूसरी तरफ टी.वी. के माध्यम से ठीक उसी समय 'रामायण' सीरियल की शुरुआत द्वारा धार्मिक और आस्था युक्त वर्ग को अपनी साजिश का शिकार बनाया जा रहा था। 'रामायण' सीरियल द्वारा राम को देव स्थान प्राप्त करने में इसने अहम् भूमिका निभाई। 'राम' हिन्दू परिवारों के कर्णधार और पालनहार बनते गए। हिन्दुत्ववादी शक्तियों ने हिन्दू अस्मिता के रूप में 'राम' को उभारा, जिसके द्वारा 'राम' हिन्दू समाज की पहचान बन गए और अयोध्या उनकी जन्मभूमि के रूप में उभरती चली गई। ठीक उसी समय अख़बारों में हिन्दुत्ववादी राजनीति और फासीवादी ताकतों के विचारों के ढेरों नियमित स्तम्भ निकाले जा रहे थे। तब ज़्यादातर अख़बारों में जहाँ एक ओर रोजाना उनके बयानों को प्रमुख समाचारों के रूप मे छापा गया वहीं दूसरी तरफ संपादकीय पृष्ठों पर भारी मात्रा में इस भगवाकरण के पक्ष में संपादकीय छपे एक साथ और लगातार। देखा जाए तो समाचार–पत्रों की यह नीति कष्टकारी, हानिकारक और जनमानस को भ्रमित करने के साथ–साथ भड़काने और उत्तेजित करने का काम कर रही थी। 1992 में और उससे पहले – हिन्दी का कौन सा अख़बार अपवाद था, जिसने शिला–पूजन की ख़बरों से अपने पन्ने पाट नहीं दिए थे ? अत्यन्त बढ़ा–चढ़ाकर और बिना किसी आलोचनात्मक विवेक के हिन्दू साम्प्रदायिकता के उस उभार को अख़बारों ने भारी पैमाने पर जन–सामान्य के बीच जगह दी। इन अख़बारों ने शिलापूजन से लेकर 'मस्जिद–विध्वंस' तक हिन्दू–साम्प्रदायिकता के प्रसार के लिए स्वयंसेवक की तरह काम किया। देश को घुन की तरह खा रही साम्प्रदायिकता और आवाम की लाशों पर खड़े इन अखबारों की कूटनीतियों को समझने की कोशिश की जानी चाहिए। अतः कह सकते हैं कि "भविष्य में जब इस दौर का मूल्यांकन होगा,

जनता के दृष्टिकोण से वर्तमान दौर का जब विश्लेषण होगा और शोध होंगे, जब औपनिवेशिक शोषण की प्रक्रिया और उसके परिणाम देश की चेतना का हिस्सा बनेंगे तब इन अख़बारों को कलंक के रूप मे याद किया जाएगा।"[22]

इन अख़बारों में विचारों के नाम पर वह सब कुछ छपता है जो इतिहास के सार–तत्व की समझ से कटा हो, समाज की ठोस भौतिक सच्चाईयों से अलग हो। एक आवेशपूर्ण भावनात्मक लफ्फ़ाजी राजनीतिक विश्लेषण के रूप में स्थापित हो चुकी है। राजनीतिक टिप्पणीकारों की एक पूरी जमात पिछले दशक भर में कुकुरमुत्तों की तरह उगी है और उसने प्रिंट मीडिया को पूरी तरह से अधिग्रहित कर लिया है।

अख़बारों के लिए राष्ट्रहित महत्त्वपूर्ण न होकर स्व-हित और मुनाफा महत्त्वपूर्ण हो गया है। इसी के आधार पर कार्य हो रहे हैं।

संप्रदायवाद का फासीवादी स्वरूप

बाबरी–मस्जिद का ध्वस्त किया जाना हिन्दू सांप्रदायिकता की चरम परिणति थी। हिन्दू सम्प्रदायवाद का यह ऐसा कदम था, जहाँ संप्रदायवादियों ने साझी परम्परा, साझी विरासत, साझी पहचान आदि को न केवल नकार दिया वरन् मटियामेट भी कर दिया। बाबरी–मस्जिद ढहाने का निर्णय संप्रदायवादियों द्वारा एक दिन में नहीं लिया गया था। इसके लिए काफी समय से तैयारी चल रही थी यह सब पूर्व नियोजित था। तरह–तरह के हथकंडों से हिन्दू सांप्रदायिकता उभारी जा रही थी। बाबरी–मस्जिद का विध्वंस उग्र फासीवादी हिन्दू सांप्रदायिकता को उजागर करता है। इसके लिए पूरे देश में सांप्रदायिक शक्तियों को अमानवीय कृत्यों के लिए प्रोत्साहित किया गया। चारों तरफ सांप्रदायिक उन्माद की जो लहर उठी। उसकी गिरफ्त में पूरा देश आ गया। शासन व्यवस्था और कानून को दरकिनार कर दिया गया। संप्रदायवादियों द्वारा अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कुछ भी कर गुजरने का जज्बा ही फासीवाद है। इससे समाज और राष्ट्र का कितना बड़ा नुक़सान हो रहा है, इससे उनका कोई वास्ता नहीं। इसलिए कहा गया है, "वे (सम्प्रदायवादी) किसी गुज़रे जामने के अवशेष मात्र हैं, जिनकी जड़ें न तो अतीत में हैं और न वर्तमान में। वे बीच हवा में लटक रहे हैं। ... लेकिन हमें यह नहीं भूलना है कि उनका सोचने

समझने का तरीक़ा बहुत ख़तरनाक है। यह दूसरों की तरफ ज़बर्दस्त नफ़रत का तरीक़ा है। अगर हम इस किस्म के सम्प्रदायवाद को काय़म रहने देते हैं – चाहे यह हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई या सिख संप्रदायवाद हो तो भारत वह नहीं रहेगा, इसके टुकड़े–टुकड़े हो जाएंगे।"[23]

फासीवाद हमेशा विचार से डरता है इसीलिए विचार के प्रसार पर सबसे पहले रोक लगाता है। यह अपने आपको समाज के कल्याण के लिए, संरक्षण भाव के लिए और एक विश्वसनीय रूप में उद्घाटित करता है परन्तु यह सब मिथ्या और भ्रम है। फासीवाद की स्थापना भावात्मक शोषण के आधार पर की जाती है। भावनात्मक शोषण के लिए किसी भी संवेदनशील मुद्दे को आधार बनाया जा सकता है। बहुसंख्या में फैले हिन्दू धर्म के इस 'फासीवादी स्वरूप' को रामजन्म–भूमि बाबरी मस्जिद मामले में साफ़ तौर पर देखा जा सकता है। अयोध्या का राममंदिर विवाद फासीवादी धरातल पर खड़ा है।

सुमित सरकार कहते हैं कि, "फासीवाद यूरोपीय इतिहास से बाहर समकालीन भारतीय ऐतिहासिक संदर्भ में कल तक महज एक फतवा ही लगता था। एक ऐसा फ़तवा जो बग़ैर सोचे–समझे अनाप–शनाप इस्तेमाल से घिस–पिट गया था। और जिसका आशय तानाशाहीपूर्ण दमन अथवा खास तरह की खुली प्रतिक्रियावादी हिंसा से ज्यादा कुछ नहीं था।"[24] लेकिन छह दिसम्बर और उसके बाद की घटनाओं से लगने लगा कि जैसे फासीवाद की समूची वहशत को ख़ौफनाक तरीक़े से ज़ाहिर करने वाले तत्व सड़कों पर सीनाज़ोरी करते मंडराने लगे हैं और इन तत्वों को सत्ता के प्रतिष्ठानों से शह और पोषण मिल रहा है।

"फासीवाद का अपना कोई भविष्य नहीं होता, यह सभ्यता की उज्ज्वल और प्रेरणास्पद चीजों को नष्ट करता चलता है। एक बार स्थापित हो जाने के बाद फासीवाद का एकमात्र कार्यक्रम यह रह जाता है कि किसी भी तरह वह अपने को बनाए और बचाए रख सके। इस प्रक्रम में वह किसी भी सीमा तक जा सकता है।"[25]

फासीवाद ने वैचारिक स्तर पर ऐसा वातावरण तैयार कर दिया है कि साधारण मनुष्य उसकी चपेट में आने से नहीं बच पाया है। यह वैचारिक धरातल पर चेतनाशील मनुष्य की तर्क–वितर्क करने की शक्ति को सबसे पहले तोड़ने का काम

करता है। मनुष्य की चेतना और विवेक शक्ति पर इसने क़ब्ज़ा जमा लिया है। मनुष्यता को तोड़ता, धार्मिक रिश्तों को नकारता, तर्क–वितर्क, चेतनाशील पद्धति को धकेलता अपना वर्चस्व बनाने में यह कामयाब हो रहा है। मनुष्यों के चारों तरफ इसने षड्यंत्रकारी ताना–बाना बुना है जिससे निर्बल इंसान नहीं बच पाया है। साधारण जन के सामने इसने आकर्षक, लुभावनी और आँख–चौंधिया देने वाली स्थिति उत्पन्न कर दी है। अतः "सांप्रदायिक फासीवाद अब इस देश का सबसे बड़ा यथार्थ होता जा रहा है। सारे यथार्थों और सारी वास्तविकताओं से ऊपर सबसे केन्द्रीय यथार्थ। इसे बाक़ायदा लाया जा रहा है और स्थापित किया जा रहा है। यथार्थ की एक प्रवृत्ति यह भी होती है कि यह षड्यंत्रपूर्वक या सायास लाया नहीं जा सकता। स्थितियों–परिस्थितियों के स्वाभाविक क्रमानुक्रम में वह स्वतः आता है। जमीन में बोए बीजों से अंकुरित होते पौधों या फसल की तरह।"[26]

आज के समय में फासीवादियों ने ख़ौफनाक और डरावनी स्थिति पैदा कर दी है। रामजन्मभूमि का ढहाया जाना और उसके बाद भड़के दंगे इस फासीवादी स्वरूप का जीता जागता उदाहरण है। हालाँकि ये दंगे विभाजन के बाद से अब तक हुई सांप्रदायिक हिंसा में सबसे ज्यादा डरावने, स्पष्ट और व्यापकतम थे। यह सब दर्शाता है कि फासीवादी ताकतों ने हिन्दू राष्ट्र की मुहिम ने हमारे धर्मनिरपेक्ष और लोकतांत्रिक आधार को ही संकट में फँसा दिया है। इन फासीवादी शक्तियों के सामने लक्ष्य था – हिन्दू मानस को धार्मिक प्रतीकों के सहारे अपने अनुकूल ढालना एवं बहुसँख्या में फैले हिन्दू समाज के दुरुपयोग द्वारा सत्ता हासिल करना। इसके लिए उन्होंने राम के मिथक, हिन्दुत्व के मॉडल को चुना। क्योंकि समस्त हिन्दू परिवारों की अस्मिता के प्रतीक राम ही हैं, और बहुसँख्या में फैला 'हिन्दू जनमानस' रामजन्मभूमि को प्रतीक के रूप में पूजता है। आम इंसान की इसी भावना को लेकर फासीवादी आगे बढ़ रहे हैं। अरुधंती राय ने ठीक सवाल उठाया है कि, "फासीवाद को तभी बाहर किया जा सकता है, जब वे सब लोग जो इससे खिन्न हैं, सामाजिक न्याय के प्रति वैसी ही प्रतिबद्धता दिखाए जितना प्रचंड उनका गुस्सा है।"[27] समाज की प्रगतिशीलता और विवेकशीलता पर अरुधंती राय का यह वाक्य प्रश्नचिह्न लगाता है।

निर्बल और असहाय व्यक्ति के अशिक्षित होने का ये फासीवादी फायदा उठा रहे हैं। व्यक्ति अपने वर्तमान से खिन्न और अनभिज्ञ बना हुआ है, यह एक ऐसी

लड़ाई है जिसके लिए नागरिकों को जागरूक होना पड़ेगा तभी उज्ज्वल और स्वस्थ्य समाज की कल्पना की जा सकती है। अरुधंती राय समाज को सही राह दिखाने की कोशिश करते हुए कहती हैं, "सामाजिक न्याय के इस आन्दोलन में जब तक एक लेखक और नागरिक के बतौर हम शामिल नहीं होते तब तक फासीवाद का प्रतिरोध मुश्किल है। केवल लेखन से काम नहीं चलेगा, क्योंकि हमारा लिखा उस आदमी तक पहुँच ही नहीं रहा है जो संक्रमित हो रहा है या हो सकता है। उन लोगों तक तो फासीवादी पहुँच रहे हैं और सफल हो रहे हैं।"[28] यह है आज का सच जिसे झुठलाया नहीं जा सकता। इस हिन्दू फासीवाद ने कट्टर स्थिति उत्पन्न कर दी है। बल्कि कहें तो मुस्लिम फासीवादी उतने भयावह नहीं जितने की हिन्दू फासीवादी।

आज नेहरू की एक पुरानी चेतावनी सच लग रही है। उन्होंने कहा था, "अपनी प्रकृति में मुस्लिम साम्प्रदायिकता भी उतनी ही बुरी है, जितनी हिन्दू साम्प्रदायिकता। हो सकता है कि उसका रंग बहुसंख्यक समुदाय के ऐसे तत्वों की बनिस्पत मुसलमानों में ज्यादा गहरा हो 'पर मुस्लिम साम्प्रदायिकता भारतीय समाज पर हावी नहीं हो सकती और न फासीवाद की शुरुआत कर सकती है। यह क़दम तो बस हिन्दू साम्प्रदायिकता ही कर सकती है।"[29]

आज के समय में फासीवाद ने वह रूप धरा है जो 'सांप्रदायिकता' का चरम कहा जा सकता है। 6 दिसम्बर, 1992 को इस फासीवाद के भयानक आतंकित और ख़ौफनाक रूप को समाज ने देखा है। इस सबसे स्पष्ट है कि हिन्दू राष्ट्र की मुहिम ने देश के धर्मनिरपेक्ष और लोकतांत्रिक आधार को ही संकट में फँसा दिया है।

फासीवादी शक्तियों की इन सारी कूटनीतियों को 'आख़िरी कलाम' सिरे से उजागर करता है। हिन्दू जनमानस के इस विध्वंसक रूप से बचाव आवश्यक है। अपने वर्चस्वकारी स्वरूप के आगे सभी को गौण समझते हुए ये शक्तियाँ हिन्दुओं के प्रतीक 'राम' के नाम का प्रयोग अपने लिए कर रही हैं। फासीवादी स्वरूप का ही वर्चस्व है कि बाबरी मस्जिद को कुछ ही समय में नेस्तनाबूत कर दिया गया। उसके बाद के भड़के दंगे हिन्दू और मुसलमानों को कट्टर शत्रु के रूप में दर्शाते हैं। और इस विध्वंस के बाद दोनों एक–दूसरे के खून के प्यासे हो गए।

सम्पूर्ण अयोध्या आगजनी, मारकाट, लूटपाट का पर्याय बनी हुई है। सम्पूर्ण

अयोध्या में ही नहीं देश भर में हिन्दू लोग मुसलमानों के घरों को फूँक रहे थे। मुसलमानों में डर, दहशत, आतंक, भय व्याप्त हो गया है। अयोध्या से मुसलमान पलायन कर रहे हैं। यह वह जगह है जहाँ हिन्दू और मुसलमान सदियों से प्रेम, भाईचारे और सद्भाव से रह रहे थे परन्तु इन फासीवादी ताक़तों ने हिन्दुओं के दिमाग़ में इनके प्रति नफ़रत भर दी है। मियाँ जमील और पाँच मुस्लिम बुड्ढों के हश्र को 'आख़िरी कलाम' में देखा जा सकता है। यह सब फासीवादी शक्तियों का किया धरा है। पुलिस का घोर धार्मिक चेहरा, राजनीतिक लोगों का हिन्दू फासीवादियों को साथ देना, कारसेवकों के लिए पूरी व्यवस्था कराना; उनकी तैयारी के बीच किसी प्रकार का दख़ल न देना; यह सब फासीवादी ताक़तों और राजनीति का गठजोड़ है। घोर धार्मिक हिन्दू कारसेवकों का उत्साहवर्द्धन करना, कर्फ्यू के बीच जयश्रीराम – जयश्रीराम का कानफोड़ शोर और अधबने मन्दिर पर झमाझम आरती – शासन और फासीवादी ताक़तों की मिलीभगत है और यह 'आख़िरी कलाम' में मौजूद है।

दूधनाथ सिंह ने 'आख़िरी कलाम' में फासीवादी स्वरूप को प्रत्येक कोण से दिखाने की कोशिश की है। हिन्दू मानसिकतावादी पुलिस और कांस्टेबलों द्वारा सम्पूर्ण प्रशासन के मस्तिष्क पर छाए हिन्दू धर्म का वर्चस्व दिखाया है। स्वयं दूधनाथ सिंह हिन्दू धर्म के इस विध्वंसकारी स्वरूप से खिन्न और नाराज़ हैं। उपन्यास के केन्द्रीय पात्र 'तत्सत पांडेय' के वाक्यों द्वारा उन्होंने फासीवादी शक्तियों को चुनौती देने का प्रयास किया है।

संदर्भ

1. हंस – मई, 2004, पृ. 39
2. दूधनाथ सिंह – आख़िरी कलाम, पृ. 34
3. वही, पृ. 266
4. राजाराम भादू – धर्मसत्ता और प्रतिरोध की संस्कृति, पृ. 127
5. दूधनाथ सिंह – आख़िरी कलाम, पृ. 266
6. राजाराम भादू – धर्मसत्ता और प्रतिरोध की संस्कृति, पृ. 265
7. दूधनाथ सिंह – आख़िरी कलाम, पृ. 417
8. शम्भुनाथ – संस्कृति की उत्तरकथा, पृ. 136
9. सामयिक वार्ता – दिसम्बर–जनवरी, 2004, पृ. 28
10. राही मासूम रजा – टोपी शुक्ला, पृ. 76–77
11. केशवचन्द्र वर्मा – भारतीयता की पहचान, पृ. 43
12. तरसेम गुजराल – जलता हुआ गुलाब, पृ. 133
13. सं. अभय कुमार दुबे – सांप्रदायिकता के स्रोत, पृ. 89
14. विश्वनाथ सचदेव – सवालों के घेरे, पृ. 175
15. दूधनाथ सिंह – आख़िरी कलाम, पृ. 150
16. वही, पृ. 369
17. विश्वनाथ सचदेव – सवालों के घेरे, पृ. 15
18. नया ज्ञानोदय – जून, 2005, पृ. 17
19. शंभुनाथ – संस्कृति की उत्तरकथा, पृ. 133
20. दस्तक – शताब्दी, अंक–25, पृ. 21
21. विष्णु प्रभाकर – साहित्य में भारतीय अस्मिता की पहचान, पृ. 17
22. आलोक श्रीवास्तव – अख़बारनामः पत्रकारिता का साम्राज्यवादी चेहरा, पृ. 17
23. ओमप्रकाश सिंह – प्रेमचंदोत्तर कथा साहित्य और साम्प्रदायिक समस्याएँ, पृ.
24. सं. अभय कुमार दुबे – सांप्रदायिकता के स्रोत, पृ. 87
25. हंस – मई, 2004, पृ. 40
26. वही, पृ. 39
27. वही, पृ. 42
28. वही, पृ. 42
29. सं. अभय कुमार दुबे – सांप्रदायिकता के स्रोत, पृ. 87–88

.....

उपसंहार

उपसंहार

'आख़िरी कलाम' दूधनाथ सिंह का 'रामजन्म भूमि – बाबरी मस्जिद विवाद' पर आधारित उपन्यास है। इसमें धर्म और राजनीति के पारस्परिक संबंधों और दुष्परिणामों को उजागर किया गया है। 'आख़िरी कलाम' मूलतः समकालीन सभी समस्याओं को दृष्टि में रखकर आगे बढ़ता है। वस्तुतः दूधनाथ सिंह ने 'राजनैतिक समालोचना' को इस उपन्यास में संभव बनाया है। न्यायतंत्र, पुलिस व्यवस्था, संसद, लोकतंत्र, राजनीति, मंदिर विमर्श आदि के माध्यम से उन्होंने वर्तमान राजनीति का एक वृहत्तर पाठ तैयार किया है।

'आख़िरी कलाम' में भारत की सामाजिक संरचना, सत्तातंत्र, लोकतंत्र, मीडिया, विश्वविद्यालयी तिकड़म और षड्यंत्रकारी राजनीति सभी को एक व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखते हुए हिन्दू साम्प्रदायिकता के खतरे के विभिन्न पहलुओं का विवेचन किया गया है। दूधनाथ सिंह मात्र चंद कट्टरपंथियों को ही इस कुकृत्य के लिए दोषी नहीं ठहराते वरन् उन सभी लोगों को कटघरे में खड़ा करते हैं जो अयोध्या के इस भेड़ियाधसान और विध्वंस को नहीं रोक सके। 'सब झूठे, मक्कार और मिले हुए। सब हिन्दू। सब केवल हिन्दू। सभी बर्बर। सभी कारसेवक।' उनका सीधा प्रश्न है 'क्यों धर्म के नाम पर इस देश के सारे लोग ब्राह्मण हो जाते हैं ? ब्राह्मण श्रेष्ठता पर टिका यह धर्म 'डराता' है, 'अंधत्व' प्रदान करता है और मनुष्य की सांसारिक, मनोवैज्ञानिक कमजोरी को भुनाता है।

'आख़िरी कलाम' में 'दूधनाथ सिंह' धार्मिक उन्माद के कारकों की मीमांसा करते हुए इसे समसामयिक संदर्भ भी देते हैं। मंदिर विमर्श, धर्म का राजनीतिक उपयोग, कम्युनिस्ट आन्दोलन की विसंगति, विश्वविद्यालय का बौद्धिक परिवेश, जातिवादी मानसिकता सभी पर टिप्पणी करती उनकी बेलाग भाषा उपन्यास का बृहत्तर पाठ तैयार करती है। 'साम्प्रदायिक फासीवाद' से लड़ने का दावा करने वाली शक्तियाँ उनके निशाने पर हैं, चाहे वह राजनेता हों, कम्युनिस्ट हों, समाजवादी हों, मीडिया के लोग हों, उपन्यासकार सबकी भूमिका की पड़ताल करता है। उनकी

नपुंसक बौद्धिकता को भी वह कटघरे में खड़ा करता है और कहता है, 'जो इस बर्बरता को रोक नहीं सकते उन्होंने जनता पर से अपना नैतिक दावा उठा लिया है।'

दूधनाथ सिंह मानते हैं कि यह साम्प्रदायिक तत्त्ववाद 'सत्ता का मात्र एक घिनौना खेल है, गेरुए रंग में लपेटा हुआ ... किसी भी क़ौम का सरीहन अपमान है ... आधुनिक बर्बरता का नंगा नाच है।' वोटों की सियासत एवं दूषित राजनीतिक संस्कृति ने भारत के लोकतांत्रिक, धर्मनिरपेक्ष चरित्र को नष्ट कर दिया है। धर्म के द्वारा राजनीतिक स्वार्थों को पूरा करने की साजिश रची गई। धार्मिक व्यापकता ने देश की साझी विरासत के साथ–साथ मनुष्य के आपसी भाई–चारे, सौहार्द्र और प्रेम के रिश्तों को भी तोड़ दिया। हिन्दू और मुसलमान दोनों को अपनी अस्मिता और अस्तित्व के लिए एक–दूसरे का कट्टर शत्रु बना दिया।

'बाबरी–मस्जिद' विध्वंस हमारी जातीय संस्कृति का एक आन्तरिक विघटन था। यह सिर्फ हिन्दू और मुसलमान के बीच घटित नहीं हो रहा था, यह एक सेक्युलर और कट्टरपंथी हिन्दू को भी विभाजित कर रहा था। सांप्रदायिक कट्टरता को उपन्यास नए परिप्रेक्ष्य, नए समय और नई समस्याओं के रूप में भी उभारता है। यह सेक्युलर ताकतों का भी क्रिटिक है और अल्पसंख्यक वर्ग का हितैषी भी।

दूधनाथ सिंह ने भारतीय वामपंथ को भी अपनी समालोचना का हिस्सा बनाया है। वे बार–बार इन प्रश्नों से टकराते हैं – क्या कारण है कि लोगों और पार्टी के बीच फ़ासला कम होने की बजाय बढ़ा है ? जितने भी कामरेड थे आज अपनी जातियों के मूर्द्धन्य नेता हैं ? रचनाकार भारतीय वामपंथ की उस मानसिक बनावट की भी बात करता है जहाँ वह वास्तविक प्रतिरोध के बजाय एक बौद्धिक बहस में उलझ कर रह जाता है। रचनाकार को सबसे अधिक आशा वामपंथ से ही है शायद इसीलिए सबसे अधिक क्रिटिक भी इसी का रचा गया है।

दूधनाथ सिंह जीवन के कई पक्षों को शामिल करते हुए 'आख़िरी कलाम' में हमारे समाज का एक वृहत आलोचनात्मक पाठ तैयार करते हैं और अयोध्या को उसके परिणाम के रूप में देखते हैं। लेखक इस बात को रेखांकित करता है कि भले ही धर्म के भीतर निहित आध्यात्मिक चेतना मनुष्य की जरूरत हो, पर एक दुखद तथ्य यह भी है कि धर्म का पहले से ही दुरुपयोग होता आ रहा है और अब भी हो रहा

है। दूधनाथ सिंह का मानना है कि मनुष्य के नैतिक प्रश्नों का हल धर्म के बिना भी संभव है।

धर्म एवं धार्मिक उन्माद की प्रवृत्ति का खण्डन करने के साथ हमें इस अन्ध धार्मिक उन्माद एवं भूमण्डलीकरण की शक्तियों के संबंधों को भी देखना होगा। यह देखना होगा कि किस प्रकार सांप्रदायिक शक्तियाँ एक बहुलतावादी समाज में धार्मिक कट्टरपंथियों के लिए प्राणवायु का कार्य कर रही है। दूधनाथ सिंह ने धर्म एवं राजनीति के मिलन को भी घातक बताते हुए भारतीय लोकतंत्र के लिए उसे चुनौती के रूप में पेश किया है।

दूधनाथ सिंह धर्म के अन्त की बात कहते हैं, न कि सर्वधर्मसमभाव या धार्मिक सौहार्द्र की। आशय यह है कि जब तक धर्म रहेंगे तब तक धार्मिक झगड़े रहेंगे। राजनीतिक जमात, मीडिया, सांप्रदायिक लोग, सभी इसका इस्तेमाल अपने स्वार्थपूर्ण हितों को पूरा करने के लिए करते हैं। आजादी के उनसठ साल बाद भारतीय राजनीति का जो विद्रूप एवं वीभत्स चेहरा आज सामने आया है, वह निराशा उत्पन्न करता है। इस संदर्भ में लेखकीय चिंता को समझा जा सकता है।

दूधनाथ सिंह तुलसीदास रचित 'रामचरितमानस' को भी उपन्यास के केन्द्र में विन्यस्त करते हैं। तुलसी हिन्दी के सबसे बड़े कवि हैं और हिन्दू संस्कृति के निर्माण में उनकी महत्वपूर्ण भूमिका है। सम्पूर्ण हिन्दू समाज 'मानस' को धार्मिक ग्रन्थ और 'तुलसी' को हिन्दू समाज के संस्थापक के रूप में पूजता है। किसी भी कृति के दो अर्थ हो सकते हैं। जैसा कि मानस के संदर्भ में हो रहा है। तुलसी ने 'रामचरितमानस' के द्वारा 'राम' को प्रतिष्ठित किया, कालांतर में उनका व्यक्तित्व हिन्दू अस्मिता की पहचान बन गया। समाज में 'राम' का चरित्र 'हिन्दू समाज' का प्रतीक रूप बनकर उभरा। रामायण सीरियल की शुरुआत हुई, हनुमान दल बनाए गए। इन सभी से 'राम' की छवि हिन्दू अस्मिता, हिन्दू पहचान बन गई। इन सभी कारणों से हिन्दुओं में 'राम' प्रतीक रूप में उभरते चले गए। इन्हीं सब बिन्दुओं का गलत इस्तेमाल सांप्रदायिक हिन्दूवादी शक्तियों द्वारा किया गया। उन्होंने राम के मिथक द्वारा अपनी सत्ता प्राप्ति की चाह को सरअंजाम दिया। अयोध्या प्रकरण में साफ तौर पर देखा जा सकता है कि बाबरी–मस्जिद विध्वंस से पहले 'मानस' का

पठन–पाठन लगातार और बार–बार धार्मिक, सहिष्णु लोगों के सामने किया गया। लोगों को धर्म का वास्ता देकर उकसाया गया। उनकी भावनाओं को आधार बनाकर सत्ता प्राप्ति की सीढ़ियाँ चढ़ी गईं। यह एकतरफ़ा साज़िश नहीं थी बल्कि चारों तरफ से साहित्यिक, धार्मिक, संस्थागत, प्रशासनिक तौर पर जन सामान्य को बेवक़ूफ बनाया जा रहा था। प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से सही तथ्यों, साक्ष्यों को नज़रअंदाज किया जा रहा था। 'मानस' का दुरुपयोग अंध धार्मिक और सांप्रदायिक अलगाव के लिए बड़े फ़लक पर किया गया जिसका परिणाम सारा देश भुगत रहा है।

'दूधनाथ सिंह' ने देश के बौद्धिक वर्ग की दिशाहीनता एवं नपुंसक वाक्–विलास को भी रेखांकित किया है। धर्मनिरपेक्षता को महज एक शगल, सामाजिकता और कुलीन रस्म अदायगी में तब्दील होने की परिस्थिति, भूमिका, उहापोह और बौद्धिक धर्म की सुविधाजीविता आदि उपन्यास में विन्यस्त हैं।

'दूधनाथ सिंह' हिन्दू धर्म की उस वर्चस्वकारी स्थिति से क्षुब्ध हैं जो आम इंसान की धार्मिक भावनाओं के बल पर अपने लिए सत्ता प्राप्ति की जमीन तैयार कर रही है। सांप्रदायिकता के पीछे जिन कारकों का हाथ है – राजनीतिक जमात, कट्टर सांप्रदायिकतावादी, मीडिया की गलत जवाबदेही, धार्मिक ग्रन्थों का दुरुपयोग – उपन्यासकार ने सबकी वास्तविकता को उघाड़कर रख दिया है। अयोध्या, मुंबई, गोधरा, अक्षरधाम, गुजरात, वाराणसी, दिल्ली में उन्मादी धार्मिक शक्तियों के तांडव ने रचनाकार की चिंता को सही ठहराया है।

दूधनाथ सिंह ने संवेदना के स्तर पर राजनैतिक विमर्श को उपन्यास के केन्द्र में स्थापित करने का सार्थक प्रयास किया है। राजनीति की संगत व असंगत सारी व्याख्याएँ, सीमाएँ, सारी अन्तर्ध्वनियों को उपन्यास के व्यापक फ़लक पर देखा जा सकता है।

सांप्रदायिकता पर लिखे अन्य उपन्यासों सूखा बरगद, तमस, झूठा सच, आधा गाँव, टोपी शुक्ला, ओस की बूंद के बरक्स 'आख़िरी कलाम' भारी और विशाल उपन्यास ठहरता है। उपन्यास का फैलाव ज्यादा महत्वपूर्ण नहीं बल्कि उसकी विलक्षणता महत्वपूर्ण होती है। ये सब छोटे और महत्वपूर्ण उपन्यास हैं वहीं 'आख़िरी कलाम' में अनावश्यक रूप से प्रसंगों को उकेरा गया है। 'तत्सत पांडये' के

साक्षात्कार प्रसंग को जरूरत से ज़्यादा फैलाया गया है। इसी तरह स्वामी अचेतानन्द और उनके शिकारी कुत्ते, अम्मीजान और सीता रसोई के बंदर, अख़बारों की भूमिका, सौत को धोबियापाट, गायत्री की स्थिति सभी को ज्यादा फैलाना केवल पृष्ठ भरना कहा जाएगा। युनिवर्सिटी में चलने वाली टुच्ची राजनीति को बेवजह बढ़ा–चढ़ाकर प्रस्तुत किया गया है। अत्यधिक विस्तार प्रसंग उपन्यास को बोझिल और ऊबाउ बनाता है।

उपन्यास में अयोध्या की पारस्परिक एकता, रहन–सहन, अपनत्व, भाईचारे, हिन्दू–मुस्लिम सद्भावना को नहीं उभारा गया है। समाज के एक पक्ष की स्थिति को ही उभारा गया है। यह उपन्यास की एक बड़ी कमज़ोरी है। देखा जाए तो दूधनाथ सिंह का यह वृहदाकार उपन्यास तत्कालीन समाज का एकांगी चित्र प्रस्तुत करता है। जिस समय अयोध्या में सांप्रदायिक तांडव हो रहा था उस समय दोनों धार्मिक समुदायों में कुछ ऐसे लोग भी थे जो सांप्रदायिक हिंसा, दंगे, आगजनी का विरोध तो कर ही रहे थे, शासन पक्ष की कुत्सित चालों को भी लोगों के सामने उजागर कर रहे थे। दूधनाथ सिंह ने उपन्यास में ऐसी घटनाओं की तरफ विशेष ध्यान नहीं दिया है। जाहिर है, यदि वे ऐसा करते तो उपन्यास का कलेवर और संदेश कुछ भिन्न ही होता।

दूधनाथ सिंह चाहते हैं मनुष्य धर्म के इस षड्यंत्रकारी रूप से बचे, राजनीतिक चालों को ध्वस्त करे, अंधविश्वास और अंधआस्था जैसी रूढ़िवादी धारणाओं पर अंकुश लगाए। वे चाहते हैं मनुष्य के आपसी संबंधों में सौहार्द्र की पूर्ति हो, भाई चारे और अपनत्व की धारणा में विस्तार हो। मनुष्य आपसी घृणा, वैमनस्य, घुटन, आतंक, ईर्ष्या को भूलकर एक स्वस्थ और स्वच्छंद समाज की रचना में सहायक बने। धर्म और जाति की दूरियाँ कम हों। व्यक्ति धर्म और जात–पाँत मे न फँसते हुए प्रेम और लगाव को महत्व दे।

.....

संदर्भ–ग्रन्थ–सूची

संदर्भ–ग्रन्थ–सूची

आधार ग्रन्थ

दूधनाथ सिंह	आख़िरी कलाम	राजकमल प्रकाशन प्रा.लि. नई दिल्ली, 2003

सहायक ग्रन्थ

1.	अहमद एजाज़	हमारे दौर में फासीवाद	क्रिएटिव एडवरटाईजर्स एण्ड प्रिंटर्स, दिल्ली, 1995
2.	आतुर डॉ. प्रकाश	राष्ट्रीय एकता और रचनाधर्मिता	राजस्थान साहित्य अकादमी, राजस्थान, 1989
3.	इंजीनियर असगर अली	भारम में साम्प्रदायिकता– इतिहास और अनुभव	इतिहासबोध प्रकाशन, इलाहाबाद, 2003
4.	कमलेश्वर	सवाल सरोकारों का	अमित प्रकाशन, उ.प्र., 2004
5.	कोठारी रजनी	सांप्रदायिकता और भारतीय राजनीति	रेनबो पब्लिशर्स लिमिटेड दिल्ली, 1998
6.	गुप्ता रमणिका	सांप्रदायिकता के बदलते चेहरे	वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2004
7.	चन्द्र बिपिन	सांप्रदायिकता–एक परिचय	अनामिका पब्लिशर्स एंड डिटस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लि. दिल्ली, 2004
8.	चन्द्र बिपिन	आधुनिक भारत में सांप्रदायिकता	हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली 1996
9.	चन्द्र बिपिन	समकालीन भारत	अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लि., दिल्ली, 2006

10.	चन्द्र सुभाष	सांप्रदायिकता	इतिहासबोध प्रकाशन, इलाहाबाद, 2006
11.	तरुण हरिवंश	भारत की राष्ट्रीय एकता	ज्ञानगंगा प्रकाशन, दिल्ली, 1991
13.	पचौरी सुधीश	हिन्दुत्व और उत्तर आधुनिकता	राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 2002
14.	पाण्डेय डॉ. गणेश	भारतीय सामाजिक समस्याएँ	राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 2003
15.	पामदत्त रजनी	फासीवाद और सामाजिक क्रांति	ग्रन्थ शिल्पी (इंडिया) प्रा.लि. दिल्ली 2002
16.	भादू राजाराम	धर्मसत्ता और प्रतिरोध की संस्कृति	राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 2003
17.	राय विभूति नारायण	सांप्रदायिक दंगे और भारतीय पुलिस	राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 2002
18.	राय बाबू गुलाब	राष्ट्रीयता	किताबघर प्रकाशन, दिल्ली, 1996
19.	रावत विद्या भूषण	अयोध्या–साझी संस्कृति साझी विरासत	बुक्स फॉर चेन्ज, नई दिल्ली, 2004
20.	वर्मा केशवचन्द्र	भारतीयता की पहचान	लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1993
21.	सचदेव विश्वनाथ	सवालों के घेरे	सामयिक प्रकाशन, 2002
22.	सं. राजेन्द्र शर्मा	असत्य के प्रयोग	यात्री प्रकाशन, दिल्ली
23.	सं. मालिनी भट्टाचार्य	अयोध्या : कुछ सवाल	सारांश प्रकाशन, नई दिल्ली, 1994
24.	सं. – राजकिशोर	अयोध्या और उससे आगे	वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 1993
25.	सं. अभय कुमार दुबे	साम्प्रदायिकता के स्रोत	विनय प्रकाशन, 1993

26.	सं. डॉ. जगदीश्वर चतुर्वेदी	रामजन्मभूमि बाबरी मस्जिद विवाद	डब्ल्यू न्यूमैन एण्ड कम्पनी लिमिटेड, कलकत्ता, 1991
27.	सिंह दूधनाथ	लौट आ, ओ धार	राधाकृष्ण प्रकाशन, 1995
28.	सिंह दूधनाथ	निराला : आत्महन्ता आस्था	लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1972
29.	सिंह दूधनाथ	माई का शोकगीत	लोकभारती प्रकाशन, 1992
30.	सिंह दूधनाथ	प्रेम कथा का अन्त न कोई	लोकभारती प्रकाशन, 1992
31.	सिंह दूधनाथ	धर्मक्षेत्रे कुरूक्षेत्रे	वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2001
32.	सिंह दूधनाथ	निष्कासन	राधाकृष्ण प्रकाशन, 2003
33.	सिंह दूधनाथ	नमो अंधकारं	राधाकृष्ण प्रकाशन, 1998
34.	सिंह ओमप्रकाश	प्रेमचन्दोत्तर कथासाहित्य और साम्प्रदायिक समस्याएँ	नमन प्रकाशन, दिल्ली, 1998
35.	सिंह अयोध्या	फासीवाद	ग्रन्थ शिल्पी (इंडिया) प्रा.लि. दिल्ली, 1980
36.	सिंह मधु	आठवें दशक की हिन्दी कहानी– दाम्पत्य सम्बन्धों के संदर्भ में	राधाकृष्ण प्रकाशन, 1993
37.	शर्मा गीतेश	धर्मनिरपेक्षता के मायने	जनसंसार प्रकाशन, कोलकाता, 2005
38.	शंभुनाथ	संस्कृति की उत्तरकथा	वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2000
39.	श्रीवास्तव आलोक	अख़बारनामा : पत्रकारिता का साम्राज्यवादी चेहरा	संवाद प्रकाशन, उ.प्र., 2004
40.	श्रीवास्तव जगदीश नारायण	उपन्यास की शर्त	किताबघर प्रकाशन, 1993
41.	श्रीवास्तव जितेन्द्र	भारतीय राष्ट्रवाद और प्रेमचन्द	प्रकाशन संस्थान, 2004

पत्र–पत्रिकाएँ

1. हंस – मई 2003, मई 2004, अक्टू. 2003, फरवरी 2006, जून 2006, अप्रैल 2006
2. पहल – जुलाई–सितम्बर 2003
3. साक्षात्कार – सितम्बर, 2003
4. साखी – अप्रैल–जून 2005
5. इतिहासबोध – जनवरी 2005
6. समयांतर – अंक–6, मार्च 2003
7. तद्भव – अंक–10, जनवरी 2004
8. पल–प्रतिपल – अंक–71, जन.–मार्च 2005
9. सामयिक वार्ता – अप्रैल 2004, मई 2004, जून 2005, मार्च 2005
10. दस्तक – शताब्दी, अंक–21
11. नवभारत टाइम्स – 23 फरवरी, 2006
12. हिन्दुस्तान – 28 मई, 2006

.....

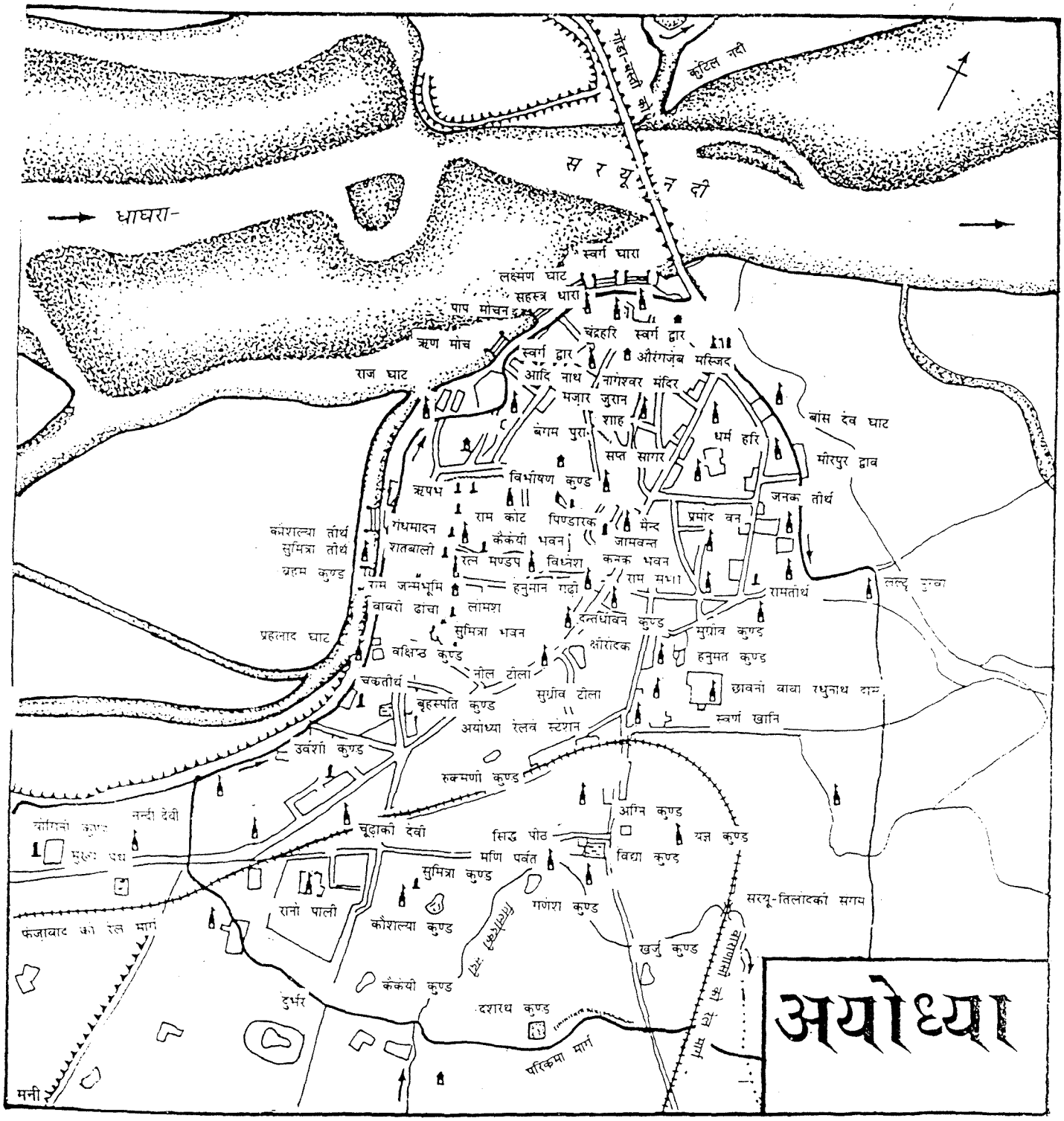

मानचित्र - 2 अयोध्या नगरी